देवर्षि नारद

भागवत दर्शन

(खण्ड ६१)

भागवती कथा महिमा (१)

★

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

द्वितीय संस्करण १००० प्रति	भाद्रपद कृष्ण २०२९ सितम्बर १९७२	मूल्य २) रु०

मुद्रक-बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

विषय-सूची

हमारी नयी पुस्तकें—

भागवत चरित-संगीत-सुधा

स्वरकार

बंशीधर शर्मा, 'भागवत चरित व्यास'

भारतवर्ष के अनेकों स्थान से लोग पूज्यपाद श्री ब्रह्मचारीजी महाराज के दर्शनों के लिये आते रहते हैं। दर्शन के साथ इच्छा होती है, कि श्री महाराज जी के मुखारविन्द से अमृतमयी कथा का श्रवण करें। आश्रम पर नित्य नियम से कथा, कीर्तन और पाठ होते रहते हैं। जो भी एक बार भागवत चरित को सुन लेता है, उसकी इच्छा होती है इसे बार-बार सुनें, किन्तु सुनें कैसे जब तक ताल स्वर बाजा तबला पर गाने वाले न हों रस नहीं आता। जिन लोगों ने धुनि नहीं सुनी उनके लिये यह नवीन राग है। अतः बहुत दिनों से लोगों के समाचार आते रहे कि भागवत चरित को शास्त्रीय संगीत में लिपिबद्ध कराके छपवा दीजिये। उसी आधार पर यह 'भागवत चरित-संगीत सुधा' तैयार की गई है। आशा है भागवत चरित पाठक इस पुस्तक से लाभ उठावेंगे।

—व्यवस्थापक

॥श्रीहरिः॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

आज चिरकाल के पश्चात् हम पाठक पाठिकाओं की सेवा में समुपस्थित हो रहे हैं। हमने पहिले ही निवेदन किया था कि भागवत दर्शन का पहिले कथा भाग लिखा जायगा तदनन्तर दर्शन भाग। परम पिता परमात्मा की कृपा से साठ भागों में कथा भाग अर्थात् भागवती कथा समाप्त हो गयी। अब एकसठवें खंड से दर्शन भाग चलेगा। हिन्दु सनातन वैदिक आर्य धर्म की सभी बातों का इसमें समावेश हो जाय ऐसी चेष्टा हम लोगों की है, होगा तो वही जो भगवान् करावेंगे।

(१) कुछ लोगों के पत्र आये हैं, कि पूरी भागवत तो साठ खण्डों में समाप्त ही हो गयी, अब आगे क्या लिखेंगे? आगे अब भागवत के सम्बन्धित अन्य विषय लिखे जायँगे। हिन्दु धर्म का श्रीमद्भागवत ही एक सर्वाङ्ग पूर्ण, सर्वश्रेष्ठ सरस सुखद ग्रन्थ है सम्पूर्ण, वेद, इतिहास, पुराण सभी तथा अन्य शास्त्रों का सार-सार लेकर शुकदेवजी ने राजा परीक्षित् को सुनाया था। आगे के खण्डों में इन्हीं बातों पर विचार किया जायगा। जैसे ६१-६२ दो खण्डों में पद्मपुराण और स्कन्ध पुराण में वर्णित भागवत महिमा का वर्णन है, फिर कई खंडों में भागवती स्तुतियाँ हैं। कथा कहते समय स्तुतियों को छोड़ते गये थे और यह आश्वासन सूतजी देते गये थे, कि समस्त स्तुतियों को स्तुति प्रकरण में फिर सुनावेंगे। कथा भाग में तो श्रीकृष्ण की उन्हीं लीलाओं का वर्णन है जो भागवत तथा अन्य पुराणों में वर्णित है। व्रज के रसिकों ने स्वयं उपासना करके अन्य बहुत सी सरस लीलाओं का साक्षात्कार किया है, व्रजभाषा के सरस साहित्य ने एक दूसरी ही रसमयी गंगा की धार बहायी है, उनका भी बीज

तो भागवत में ही है। अतः स्तुतियों के पश्चात् राधा कृष्ण की सरस सुखद लीलाओं का वर्णन होगा; जिन्हें शुष्क हृदय नीरस भौतिक वादी सुधारक अश्लील साहित्य बताकर के उपेक्षित समझते हैं। यद्यपि यह विषय अत्यन्त गूढ़ रहस्यमय गुप्त रखने योग्य है, फिर भी समय के अनुसार जब सभी गुप्त से गुप्त ग्रन्थ प्रकाश में आ गये हैं, तो इस विषय का भी सुव्यवस्थित ढंग से वर्णन होगा फिर क्रम से आस्तिक नास्तिक दर्शन, पुराण, वेद, ज्योतिष, छन्द, कर्म, उपासना, ज्ञान, सृष्टि, भूगोल, खगोल, इतिहास, अवतार, तथा अन्याय सभी विषयों का सरलता के साथ वर्णन होगा।

(२) कुछ लोग पूछते हैं, भागवती कथा की भाँति इन सभी खंडों को ब्रह्मचारीजी ही लिखेंगे, या मासिक पत्रों की भाँति भिन्न-भिन्न लेखकों से लिखायेंगे ? अभी तक तो अक्षर-अक्षर ब्रजचारीजी ही लिखते हैं, आगे जो भगवत् प्रेरणा हो।

(३) ये सभी खण्ड अत्यन्त ही उपादेय होंगे, आपके पुस्तकालय की शोभा बढ़ावेंगे, आपके संस्कारों को बनावेंगे, हिन्दु धर्म के ज्ञान को बढ़ावेंगे। और आपकी भावी सन्तानों को आस्तिकता का पाठ पढ़ावेंगे। इन खण्डों को सभी को संग्रह करना चाहिये। पीछे पुनर्मुद्रण में बड़ी देर लगती है।

(४) भागवती कथा का व्यावसायिक ढँग से प्रचार नहीं हो रहा है, इसके जो थोड़े बहुत पाठक हैं उन्हीं के उद्योग से यह कार्य चल रहा है अतः प्रत्येक पाठक पाठिका को कम से कम दस-दस नये ग्राहक पिछले और अगले खण्डों के अवश्य बनाने चाहिये, जिससे जितने भी ग्राहक बन सकें अवश्य बनावें। लोगों को भगवत् चर्चा सुनाना जीवों को भगवद् अभिमुख करना यही सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है।

(५) डाक व्यय लगभग दुगना हो गया है। छोटी पुस्तकें भेजने

में तो मूल्य से अधिक तो डाक व्यय लग आता है, अतः दो चार मिलकर रेल द्वारा इकट्ठी पुस्तकें मँगावें।

(६) जिन नगरों में हमारी पुस्तकें मिलती हैं, उन नगरों के लोग वहीं से पुस्तकें ले लिया करें। अभी हम कुछ ही नगरों में ऐसी व्यवस्था कर सकेंगे, जो लोग करा सकें वे अपने नगर के पुस्तक विक्रेताओं से बिकवाने की व्यवस्था करावें।

(७) वी. पी. मँगाने की अपेक्षा मनीआर्डर भेजकर पुस्तकें मँगाने में सुविधा रहेगी अतः मनीआर्डर से ही अग्रिम रुपये भेजें।

(८) रेल से मँगवाने वाले चौथाई मूल्य अग्रिम भे ।

(९) उत्तर प्रदेश पंचायत राज्य द्वारा 'भागवत कथा' तथा ब्रह्मचारीजी की अन्यान्य सभी पुस्तकें स्वीकृत हो चुकी हैं। ये पुस्तकें ग्राम्य पंचायतों के बहुत ही उपयोगी हैं, सभी लोग सरलता से समझ सकेंगे और उनके संस्कार भी शुद्ध होंगे। अतः पाठक पाठिकाओं से प्रार्थना है कि वे अपने-अपने जिले की पंचायतों में इनका प्रचार करें।

(१०) जो लोग पुस्तकालयों को, पाठशालाओं को, ग्राम्यपंचायतों को पुस्तकें दान करना चाहें, वे इन्हीं पुस्तकों को दान करें। ऐसे दाताओं को हम कुछ सुविधा भी देंगे।

आशा है पाठक पाठिकायें हमारे इस पुनीत कार्य में यथाशक्ति सहयोग प्रदान करेंगे। आज इतना ही शेष फिर।

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग) { विनीत—
व्यवस्थापक

भागवत-दर्शन

(भूमिका)

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।
वाचोऽभि धायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ४७ अ० ६६ श्लोक)

छप्पय

हे माधव ! मदमत्त माधुरी महँ मन मेरो ।
रहै बन्यो बलबन्धु ! चित्त चरनानि को चेरो ॥
तव तव दासनि चरन कमल महँ शीश नवावें ।
गिरा गाइ तव नाम नयन नित नीर बहावें ।
अब कब तक भवभयहरन ! इत उत भटकत हम फिरहिँ ।
सब तजि कब तव कमल पद, महँ मधुकर बनि नित बसहिँ ॥

आज चिरकाल के पश्चात् हम अपने प्रिय पाठकों के सम्मुख

---

* उद्धवजी से व्रजवासी कह रहे हैं, अपनी आन्तरिक अभिलाषा प्रकट कर रहे हैं—"हे श्यामसुन्दर ! हमारे मन की समस्त वृत्तियाँ आपके ही पुनीत पादपद्मों में लगी रहें। हे गोविन्द ! हमारी वाणी सदा आपके सुमधुर नामों के गान में संलग्न रहे। हे प्रपन्न पारिजात ! हे प्रणतवत्सल ! हमारी देह सदा आपको ही प्रणाम करती रहे।"

कुछ कहने को प्रस्तुत हुए हैं। कहना भी एक व्यसन है और सुनना भी व्यसन है कुछ लोगों को कहे बिना चैन नहीं पड़ता। कई सज्जनों को मैं जानता हूँ वे जब तक बोल न लेंगे, तब तक उन्हें भोजन नहीं पचता। चाहें ज्वर चढ़ा हो, श्रमित हों, थकित हों, उन्हें प्रवचन अवश्य करना। इसी प्रकार कुछ सुनने के व्यसनी होते हैं। सत्संग में सभा सम्मेलनों में जायेंगे वहाँ प्रहरों बैठे रहेंगे, चाहे समझें कुछ भी नहीं। कुछ लोगों को परनिन्दा परचर्चा का व्यसन होता है, जो उनके सम्मुख आ गया, उसकी उन्हे निन्दा कर देनी। उनका किसी से राग-द्वेष ही हो, सो भी बात नहीं। जिनसे परिचय भी न हो, सम्बन्ध भी न हो उनकी भी उनके मुख से निन्दा सुन लो। जिस विषय को समझते भी नहीं उसकी भी आलोचना सुन लो। करें क्या, उन्हे जब तक भर पेट निन्दा करने का अवसर न मिले, तब तक अन्न नहीं पचता खोये-खोये से रहते हैं। एक बहुत बड़े सुप्रसिद्ध नेता हो गये हैं, देश विदेश मे सभी उन्हे जानते हैं। उन्हें धार्मिक सामाजिक लोक सेवा सम्बन्धी कार्य करने का व्यसन था। प्रातः जब तक सैकड़ों पत्र पचासों तार लेकर उनके निजी सचिव उनके पास नहीं आते थे, तब तक वे व्यग्र ही बने रहते। जब सब पत्रों का तारों का उत्तर लिखवा देते तब उन्हें एक प्रकार से आनन्द की अनुभूति होती थी। किसी ने उनसे कहा—"महाराज अब तो आप बहुत वृद्ध हो गये हैं, संन्यास ले लीजिये।" तब उन्होंने कहा था—"भाई, मेरा तो एक प्रकार से संन्यास ही है, कपड़े रँगने से ही क्या होता है।"

इस पर जब कहा गया कि आप जैसे पुरुष ही आदर्श न दिखावेंगे, तो दूसरे लोगों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। चाहे कपड़े रँगने मे कुछ भी न हो आपको आदर्श तो उपस्थित करना ही चाहिये।"

तब उन्होंने हँसते हुए कहा—"बात तो तुम्हारी यथार्थ है, किन्तु मान लो मैं संन्यास लेकर एकान्त में रहने भी लगूँ, तो मेरा समय कैसे कटेगा, बिना कार्य किये मुझसे क्षण भर भी नहीं रहा जाता।"

वास्तविक बात यह है, कि हम किसी न किसी व्यसन में बँधकर कार्यों में प्रवृत्त हैं। किसी को दुर्व्यसन है, किसी को सद्व्यसन। दुर्व्यसन की अपेक्षा सद्व्यसन अच्छा है। निन्दा स्तुति करने की अपेक्षा कथा सत्संग का व्यसन उत्तम है। सुरा-पान के व्यसन की अपेक्षा विशुद्ध टटके दूध पान का व्यसन उत्तम है। किन्तु जो हमारा अन्तिम लक्ष्य है उसमें तो सभी प्रकार के व्यसनों को छोड़ना ही पड़ेगा। धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, शुभ-अशुभ इन सबसे ऊँचा उठना होगा। जब तक मन में सांसारिक कैसी भी कामना रहेगी तब तक परमार्थ का पथ पूर्णतया परिष्कृत नहीं हो सकता। स्कन्धपुराण में लिखा है—कामना दो वस्तुओं की होती है, श्रीकृष्ण की कामना और धन की कामना। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त जो भी चाहा जाय, वह सब धन के अन्तर्गत है, उसकी 'धन' संज्ञा है पद, प्रतिष्ठा, मान, सम्मान कीर्ति, ख्याति, स्त्री, पुत्र, साहित्य, संगीत कला, रुपया पैसा, वस्त्र, आभूषण, मठ, कुटिया, कोठी, वाहन जितनी भी ये सांसारिक वस्तुयें हैं, सबका शास्त्रकारों ने 'धन' में समावेश कर दिया है।* श्रीकृष्ण-जो परम धन है-उसे हम नहीं चाहते और इन नाशवान् क्षुद्र धनों के लिये निरन्तर लालायित रहते हैं क्षुद्र देवताओं की उपासना करके क्षुद्र सिद्धियों के चक्कर में फँस जाते हैं और मकामियों के झुंड के झुंड देखकर अपने को सिद्ध ईश्वर समझ लेते हैं। ये क्षुद्र सिद्धियाँ अल्पकाल में समाप्त हो जाती हैं।

---

* कृष्णार्थीनि धनार्थीति श्रोता वक्ता द्विधा मतः।
श्रीकृष्ण व्यतिरिक्तं यत् सर्वं धन संज्ञितम्॥

अशाश्वत वस्तुओं से शाश्वती शांति भला कैसे प्राप्त हो सकती है। मेरा रोना तो पाठक जानते ही हैं। सर्वात्मभाव से श्रीकृष्ण की कामना न करके मैं धन की कामना के चक्कर में पड़ा हूँ। यह मैं पहिले ही बता आया हूँ कि धन का अर्थ केवल रुपया पैसा ही न होकर कीर्ति प्रतिष्ठा, प्रशंसा मान सम्मान सभी की 'धन' ही संज्ञा है। लिखना भी एक व्यसन है और कीर्ति प्रतिष्ठा, पैसा, नाम, मान, सम्मान, ही प्रायः इसका हेतु है। साहित्यकार लिखते हैं, काव्य यश के लिये या धन के लिये किया जाता है।

"भागवती कथा" के पाठक भूले न होंगे मैंने आरम्भ में ही प्रथम खण्ड की भूमिका में यह लिखा था, ५-७ खंड छपाकर मैं इस प्रकाशन के कार्य से विरत हो जाऊँगा, किन्तु ऐसा हो नहीं सका। भागवती कथा, के ६० भाग छपकर प्रकाशित हो गये, बहुत से खण्ड तीन-तीन, चार-चार बार छप गये, कथा भाग समाप्त भी हो गया। सबका देना लेना भी प्रायः चुकता हो गया। अब तो कोई बात रह नहीं गई। न्यायानुसार मुझे विरत हो जाना चाहिये था, किन्तु हो नहीं सका। पुनः पाठक साठ के पश्चात् इकसठवें खण्ड की भूमिका पढ़ रहे हैं। इसमें मेरा लेखन व्यसन और धन की कामना के अतिरिक्त कोई तीसरी बात हो, तो उसे श्रीकृष्ण ही जानते होंगे। मैं तो पुनः प्रवृत्ति में ये ही दो हेतु अनुभव करता हूँ।

भागवती कथा के ६० खंड छप जाने के अनन्तर हमने सोचा कि इसे यहीं समाप्त कर दिया जाय, लेखन प्रकाशन के कार्य का विराम कर दिया जाय। इसी बीच गोरक्षा का कार्य आ गया और सम्पूर्ण देश में इधर से उधर जाना पड़ा। संघर्षमय जीवन विताना पड़ा। जैसे प्रत्येक तीव्र कार्य की एक तीव्र प्रतिक्रिया होती है, वैसे ही एक बार पुनः प्रतिक्रिया हुई। सोचा सब छोड़ छाड़कर

कहीं एकान्त में निवास करें। मुझे हिमालय प्रदेश से स्वाभाविक प्रेम है। वहाँ के ऊँचे-ऊँचे पहाड़, कल-कल करती हुई वेग से बहने वाली नदियाँ, मेरे मन को मोह लेती हैं, इच्छा होती है, आकाशगामी पक्षी की भाँति यहाँ एकान्त अरण्यों में पड़ा रहूँ, किन्तु मेरे दुर्भाग्य को तो देखिये, जब-जब भी जाता हूँ, तब-तब ही कोई नयी व्याधि उत्पन्न हो जाती है, वहाँ का जलवायु इस शरीर के अनुकूल ही नहीं पड़ता। पहिले प्रायः प्रतिवर्ष श्रीबदरीनाथ जाता था, और महीनों रहता था। इसी लोभ से कि कुछ काल में यहाँ का जलवायु प्रकृति के अनुकूल पड़ जायगा, किन्तु ऐसा हुआ नहीं भागवती कथा लेखन काल में तो कहीं जाना हो ही नहीं सका। कथा भाग समाप्त होने पर फिर गया महीने के लगभग रहा, किन्तु जब भी जाता हूँ, शौच में रक्त आने लगता है। पारसाल नहीं गया, अब के पटना जेल से छूटते ही फिर गया। मार्ग में अनेकों विधान बनाता गया, मन मोदक तैयार करता गया, किन्तु जैसे दरिद्रों के मनोरथ उत्पन्न होते हैं विलीन हो जाते हैं वैसे ही सब 'पालागे चिरंजीव' हो गये। वही कहावत चरितार्थ हो गयी।

छऊ गये ससुराल छऊ दिन छै में आये।
छऊ के आये छै महमान छऊ कहूँ गये न आये॥

पुनः लौटकर आये। यह मैं कोई स्पष्टीकरण नहीं कर रहा हूँ। अपनी निर्दोषता सिद्ध नहीं करता। अहर्निशि निरन्तर जो भजन करने वाला है उसे कोई स्थान का बन्धन तो है ही नहीं कि अमुक स्थान पर ही अहर्निशि भजन हो सकता है करने वाला सर्वत्र कर सकता है और न करने वाले-केवल मान प्रतिष्ठा की कामना करने वाले-बदरीनाथ से आगे शतोपथ की गुफा में-एकान्त में रहने वाले भी विशुद्ध व्यापार करते हुए मैंने अपनी आँखों से देखे हैं। पर मैं एक दूसरी बात कह रहा हूँ,

अपने संस्कारों का उल्लेख करता हूँ, कि इर-फिरकर जिससे भागना चाहता हूँ वही परिस्थिति आ जाती है। मन में तो मान प्रतिष्ठा और ठाठ बाठ पूर्वक सुखमें जीवन बिताने की वासना भरी है। वह तो पूरी होगी ही, प्रकृति बलपूर्वक उसमें नियुक्त करेगी। मोहवश करने की इच्छा भी न करें तो भी अवश होकर विवश बनकर करना ही पड़ेगा।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध शासक हिटलर का एक प्रचार मंत्री हुआ है। गत जर्मनी युद्ध में उसने बहुत-सी असत्य बातों का प्रचार किया है। उसका कहना है कि कोई झूठी भी बात हो उसे आप हजार बार कहिये, बार-बार लोगों में प्रचार कीजिये बार-बार के प्रचार से झूठी बात को भी लोग सत्य मानने लगेंगे उसके संस्कार सबके मन पर जम जायेंगे। हमने लाखों बार विज्ञापनों में छपाया कि भागवती कथा के एक सौ आठ भाग निकलेंगे कुछ असत्य की भावना से नहीं पहिले सोचा भी यही था। इसी क्रम से लिखते गये तो सात–आठ वर्ष में लिख जायँगे। भागवती कथा प्रथम खण्ड सम्वत् २००३ वि० में निकला था। उसे नौ वर्ष हो गये, अब तक लिखने का क्रम निरन्तर चलता रहता तो १०८ खण्ड अब तक पूरे हो जाते, क्योंकि एक वर्ष में बारह खंड सरलता से लिखे जाते हैं किन्तु बीच बीच में और भी बाधाएँ पड़ती गयीं। प्रतिष्ठा के लिए, नाम के लिये परोपकार के नाम पर आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेना पड़ा और साठ तक ही छपकर यह काम बीच में ही पड़ा रह गया। अब सोचा—"जब निरन्तर भगवत् चिन्तन स्मरण नहीं होता तो लाओ इसी संकल्प को पूरा कर लें। इसी उद्देश्य से पुनः प्रकाशन को चालू किया। प्रकाशन के बिना मैं तो लिख ही नहीं सकता। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसमें, मान, प्रतिष्ठा, नाम तथा धन किसी की भी इच्छा क्यों न हो कार्य तो भगवत् सम्बन्धी ही

है। चर्चा तो सत्त्व मूर्ति भगवान् वासुदेव की ही है। मन में कामना तो इन सांसारिक वस्तुओं की रहती ही है। यद्यपि मैं मन को बहुत समझाता हूँ, तू भगवान् वासुदेव की कामना न करके इन सांसारिक वस्तुओं की कामना क्यों करता है। कुछ काल तो यह बात समझ में आती है फिर भूल जाते हैं फिर उसी असत् व्यापार की बात सोचने लगते हैं।

मन में आता है सभी पत्रों में हमारे चित्र छपें। फिर मैं सोचता हूँ—"रे मन ! पत्रों में चित्र छप ही गये, तो क्या हो जायगा। तुझे भगवान् तो मिल नहीं जायँगे या तुझे उससे शाश्वती शान्ति तो मिलेगी ही नहीं। यदि पत्रों में चित्र छपने से ही कोई सुखी होता तो इन छाया चित्र सिनेमा की नायिकाओं के तो चित्र प्रायः सभी पत्रों में नित्य ही छपते हैं, इतने चित्र तो तू सात जन्म प्रयत्न करे तो भी तेरे नहीं छप सकते, जब वे ही सुखी नहीं हैं वे ही अशान्त हैं तो तेरे चित्र कहीं छप भी गये तो तुझे क्या मिल जायगा।"

कभी मन में आता है हमारे स्वागत को बहुत भीड़ आवे बहुत से लोग हमें देखने आवें। फिर मन को समझाता हूँ, छाया चित्र नायिकाओं को देखने को कितने लोग लालायित रहते हैं। यहाँ प्रयाग में ही एक प्रसिद्ध छायाचित्रनर्तकी आयी थी। सहस्रों लाखों लोग उसे देखने स्टेशन पर पहुँचे, जिन्होंने उसके दर्शन नहीं पाये रेल की खिड़कियों के शीशे तोड़ दिये उसे दर्शन देने छत पर खड़ा होना पड़ा। दो, ईश्वर को न मानने वाले रूस के सज्जन आये उनके दर्शनों को इतने लोग गये कि उतने कदाचित ही किसी के लिये गये हों। क्या ये सब सुखी हैं, शान्त हैं, कृतार्थ हैं। क्या इन्हें इतने सम्मान से सन्तोष है ? यदि नहीं तो फिर तू इसके लिये क्यों लालायित रहता है।

कभी मन में आता है हमारी शोभा यात्रा धूम धाम से निकले

गाजे बाजे के साथ नगर में हमें घुमाया जाय सहस्रों नर नारी हमें देखें। फिर मन से कहता हूँ तेरी शोभा यात्रा तो एक दिन में एक ही नगर में निकल सकती है, किन्तु ये जो छायाचित्रों के नायक नायिकायें हैं इनके चित्रों की शोभा यात्रा तो नित्य ही गाजे बाजे के साथ प्रत्येक नगर में निकलती है कभी-कभी तो दिन में कई बार निकलती है इतनी शोभा यात्रायें तो भगवान की भी न निकलती होंगी। इन शोभा यात्राओं से उनकी सम्मान की तृष्णा शान्त हो गयी है क्या ? वे सब अपने को कृतार्थ अनुभव करते हैं क्या ? यदि नहीं, तो तू क्यों असत् वस्तु के लिये ललचाता है।

कभी मन में आता है अमुक साधु ने चेले चेली बनाकर कितने लाख रुपये पैदा कर लिये। कितने बड़े-बड़े भवन बना लिये। फिर मैं मनको समझाता हूँ यदि बड़े बड़े भवन बनानेसे ही शांति मिलती होती, तो मैंने तो सेठों के बड़े बड़े महल देखे हैं। ऐसे महल कि जिनमें वे दो वर्ष में कभी ही एक दो दिन को जाते हों प्रत्येक नगर में उनकी कोठियाँ खड़ी हैं, उनमें सुख साज के सभी सामान प्रस्तुत हैं। फिर भी वे अशांत बने रहते हैं तू सात जन्म तक सिर पटककर मर जा फिर भी ऐसा एक भी भव्य भवन नहीं बना सकता। जब इतने भवनों के स्वामी दुखी हैं अशान्त हैं, चचल हैं तो तुझे उनसे सुख कैसे मिलेगा। यदि धन से ही सुख होता, तो चेली चेला बनाकर वर्ष में अधिक से अधिक लाख दो लाख कमा सकते हैं। कई व्यक्तियों को हमने देखा है बड़े-बड़े लोग उनके शिष्य हैं वर्ष में अधिक-से-अधिक २-४ लाख कमाते होंगे। यदि धन से ही सुख होता—तो कलकत्ते बंबई आदि बड़े-बड़े नगरों में ऐसे भी व्यक्ति हैं जो पल भर में ५०-५० लाख रुपये सट्टे में कमा लेते हैं फिर भी वे अशान्त ही बने रहते हैं। तैंने झूठ सच बोलकर—दम्भ करके परमार्थ के नाम से–कुछ जमा भी कर

लिया तो क्या तुझे भगवान् मिल जायँगे, तेरा चित्त शान्त हो जायगा, तू अपने को कृतार्थ मानने लगेगा। एक बड़े भारी करोड़पति व्यक्ति ने बहुत ही अशान्त भाव से मुझसे कहा था—"महाराज, श्रीमद्भागवत में जो धन के १५ दोष बताये हैं वे यथार्थ में सत्य हैं। धन आने पर न्यूनाधिक मात्रा में चोरी, हिंसा असत्य, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और मदिरा ये अवगुण आ ही जाते हैं।" जब धन के आने पर ये अवगुण आते हैं और यह एक करोड़पति के अनुभूत वचन हैं तो हे मूढ़ मन! तू धन से सुखी होने की अभिलाषा क्यों करता है?

कभी मन में आता है अपने कार्य के विज्ञापन के लिये कई भोंपू गाड़ियाँ (मोटरें) हों तो बड़ा काम हो। फिर मैं मन को समझाता हूँ, जिनकी अनेकों भोंपू गाड़ियाँ उनके कार्य का विज्ञापन करतीं दौड़ रही हैं, वे भी सदा दुखी अशान्त बने हुए हैं तो हे अज्ञानी प्राणी! तू उनसे परोपकार क्या कर लेगा। श्री शंकराचार्य, श्री रामानुजाचार्य आदि आचार्यों के पास तो एक भी भोंपू गाड़ियाँ नहीं थी। उन्होंने पैदल ही जो प्रचार किया उसे करोड़ों भोंपू गाड़ी या वायुयान कहाँ कर सकते हैं?

कभी मन में आता है, अमुक के पास बहुत लोग आते हैं अमुक को बहुत से नर नारी मानते हैं, इससे उनकी बड़ी प्रतिष्ठा है, तेरी उतनी नहीं। तब मैं मन को अनेकों दृष्टान्त देकर समझाता हूँ, देख मन! संसारी लोगों के मान सम्मान में कोई तत्व नहीं। संसारी लोगों को तो धन चाहिये। धन में पद, प्रतिष्ठा, पैसा, पत्नी, पुत्र, अभियोग विजय, रोगनिवृत्ति, जूआ सट्टा सभी का समावेश है। जहाँ उनका कोई भी स्वार्थ सधेगा वहीं इकट्ठे हो जायँगे, फिर वही व्यक्ति क्षुद्र हो या महान् हो, क्षुद्र सिद्धि वाला हो या महान् वाला। जहाँ उनका उससे स्वार्थ सधना बन्द

हुआ कि फिर ये संसारी लोग बात भी नहीं करते। उड़ीसा के सम्भलपुर जिले में एक गाँव के पशु चराने वाले लड़के को किसी महात्मा ने एक जड़ी दे दी और कह दिया कि इसे देने से सब रोग अच्छे हो जायँगे उसने कुछ लोगों को दी। कुछ अच्छे भी हो गये होंगे। बस, फिर उसके यहाँ भीड़ लगने लगी। सम्पूर्ण भारत के कोने-कोने से रोगी वहाँ एकत्रित होने लगे। इतने यात्री आये सरकार रेलों का प्रबन्ध न कर सकी। उस लड़के को अलग करना पड़ा। प्रतिबन्ध लगाना पड़ा लाखों नर नारियों की भीड़ जुट गयी। पीछे सुना वह स्वयं बहुत रोगग्रस्त हो गया, किसी ने फिर उसको बात नहीं पूछी।

अपने ही इस छोटे से जीवन में मैंने बहुत से लोगों को देखा है, जिन्हें लोग ईश्वर मानकर पूजा करते थे, अपना स्वार्थ सिद्ध न होने पर उन्हीं पूजा करने वालों ने उन पर प्रहार किया उनके प्राण तक ले लिये। कुछ लोगों का उनकी सिद्धि समाप्त होने पर या व्यर्थ सिद्ध होने पर इतना अपमान हुआ, कि लोग उनका सर्व साधारण में अपमान करने लगे। संसारी लोगों को तो अपने स्वार्थ से प्रयोजन। जब तक स्वार्थ सधा पूजा की। कुछ गड़बड़ी देखी कन्नी काट दी।

आज से दो वर्ष पूर्व जब मैं गौ रक्षा के कार्य से कटक गया तो शरदचन्द्रजी ने मुझे बताया कि यहाँ कटक में एक पगलाबाबा नाम के साधु हैं, उन्होंने यहाँ पर अपनी जगन्नाथपुरी पृथक् बना रखी है। उनका कहना है, कि अब जगन्नाथजी पुरी को छोड़कर यहाँ आ गये हैं। उनका अपना पंचाङ्ग भी पृथक् है। हमारा अब मार्गशीर्ष मास है तो उनका यह आषाढ़ मास होगा, उनकी भी रथयात्रा होती है, वे स्वयं जगन्नाथजी के स्थान पर बैठकर रथ निकलवाते हैं। जगन्नाथजी के सभी स्थान सभी तीर्थ उन्होंने बनवा रखे हैं। एक शेषपीठ है उसके नीचे ११ शालग्राम तथा

रखे हैं, उसी पर बैठकर दीक्षा देते हैं। लाखों नर नारी उनके शिष्य हैं, बहुत से राजा महाराजा भी शिष्य हैं, बड़ा भारी वैभव है। उनके यहाँ खाने में मांस मछली सभी चलता है जगन्नाथजी की ही भाँति भात बनता है सभी प्रसाद लेते हैं। उनके शिष्य उन्हें ईश्वर मानकर पूजते हैं। सर्वत्र उनके चित्रों की मूर्तियों की पूजा होती है। अपार वैभव है। मेरी इच्छा भी हुई चलकर देखें किन्तु शरदचन्द्र ने कहा—"आप क्या करेंगे जाकर, मेरी तो उन पर श्रद्धा होती नहीं।" मैंने भी सोचा जो शालिग्राम को नीचे दबाकर उन पर बैठते हों खाद्य अखाद्य खाते पीते हों ऐसे ईश्वर मानी के यहाँ क्या जायँ।"

इसके पश्चात् गत वर्ष समाचार पत्रों में उनके सम्बन्ध में बहुत सी बातें पढ़ीं। अबके जब कटक गया तो मैंने शरदचन्द्रजी से कहा—"भैया! चलो, उस स्थान को देख आवें, मेरे मन में कुतूहल हो रहा है।" हम लोग गये। कटक से एक कोश की दूरी पर महानदी के किनारे जहाँ बहुत बड़ा श्मशान है, उस श्मशान में ही उनका वह बड़ा भारी आश्रम बना था। आश्रम क्या था, वह तो एक पूरा नगर था। पचासों दुकानें थीं आश्रम के आस पास, किन्तु हमने देखा वह सब उजाड़ पड़ा है। दुकानें खाली पड़ी हैं, उनकी किवाड़ें दीमकों ने खा ली हैं, छप्पर सड़े हुए नीचे पड़े हैं, घूमकर हम आश्रम के भीतर गये। फाटक टूटा पड़ा था। भीतर बड़ी भारी यज्ञशाला बनी हुई थी, उसमें मिट्टी की गौएँ बड़ी सुन्दर बनी थीं। वेदी छिन्न-भिन्न हो रही है, भीतर बीसों मन्दिर बने थे, उनमें अधिकांश देवियों की ही मूर्तियाँ थीं। कोई देवी रक्तपान कर रही है, कोई छिन्न मस्तका है, कोई किसी का मस्तक काट रही है, कोई किसी की छाती पर चढ़ी है, कोई बगुलामुखी है। सभी मूर्तियाँ कामोद्दीपक थीं। कोई-कोई तो बड़ी ही वीभत्स थीं। एक मूर्ति ऐसी देखी एकदम रति मुद्रा में राधा-

हो गये, बहुत से बड़े-बड़े न्यायाधीश पदाधिकारी, राजा, रानी, सेठ साहूकार बाबा की शरण आ गये और वे साक्षात् जगन्नाथ के रूप में पुजने लगे। तब किसी बात पर उनके समीप के गाँव वालों से उनकी कुछ खटपट हो गयी। किन्तु बाबा तो समर्थ थे, बड़े-से-बड़े अधिकारी उनके शिष्य थे, इसलिये उन्होंने गाँव वालों की ओर ध्यान नहीं दिया। इसी बीच कोई आदमी करके घोड़े (साइकिल) पर उधर से रुपये लेकर जा रहा था। किसी ने उसे मार डाला रुपये छीन लिये। गाँव वालों ने कह सुनकर रपट लिखा दी कि उसे आश्रम वालों ने ही मारा है, किन्तु कुछ हुआ नहीं।

कुछ दिन के पश्चात् एक गाँव की सुन्दर-सी युवती लड़की खो गयी। वह अपनी माँ के घर थी। वहाँ पर इस आश्रम का एक साधु गया उसे किसी प्रकार फुसलाकर यहाँ ले आया, तबसे उसका पता नहीं चला। उसका पति आश्रम में इस विचार से आया कि बाबा सिद्ध हैं कहीं उसका पता बता देंगे। आश्रम आया तो उसे कुछ संदेह हुआ कि उसकी पत्नी यहीं है। जो गाँव वाले बाबा से बिगड़े हुए थे उन्होंने भी उसका साथ दिया और कहा—"लड़की निश्चय ही यहीं है, तू रपट लिखा दे।" उसने रपट लिखा दी। कई सुन्दरी लड़कियाँ आस पास की पहिले भी इसी प्रकार खो चुकी थीं। इससे लोगों का संदेह और भी बढ़ा। बाबा तो अपनी सिद्धि के आगे किसी को कुछ समझते ही नहीं थे। किसी भले अधिकारी ने लोगों की बात सुनी और इस व्यक्ति ने जिस साधु का नाम बताया उसके नाम वारंट काट दिया। उसे लेकर पुलिस वाले आये। उस समय बाबा के यहाँ एक बड़ा भारी यज्ञ हो रहा था, सहस्रों नर-नारी एकत्रित थे बाबा ने कहा—"जब तक हमारा यज्ञ समाप्त नहीं होता हम कुछ नहीं सुनते। कई दिन पुलिस बैठी रही। यज्ञ की पूर्णाहुति हुई।

पुलिस ने उस साधु को पकड़ना चाहा। प्रारब्ध की बात कहिये या भवितव्यता की प्रबलता समझिये या पाप का घड़ा भर जाने का अवसर कहिये, बाबा अपने संतुलन को खो बैठे, उन्होंने शङ्ख बजाया। उन्होंने तो वहाँ बहुत से लोगों को सैनिक शिक्षा दे रखी थी। शंख बजाते ही बहुत से लोग धनुप-बाण लेकर निकले पुलिस पर टूट पड़े। कुछ पुलिस वाले घायल हुए, स्यात् एक दो मरे भी। तुरन्त सेना आ गयी। दोनों ओर से गोलियाँ चलीं, एक भाँति का डटकर युद्ध हुआ। सेना वालों ने सबको पकड़ लिया। पीछे वे मन्दिर में घुसे जहाँ बाबा की तथा बाबा के गुरु को काठ की जगन्नाथ के रूप में मूर्तियाँ रखी थीं। उसमें कोई जा नहीं सकता था। मूर्ति के नीचे सुरंग निकली बहुत लम्बी चौड़ी गुफा थी जिसमें बहुत से स्थान थे। उसमें बहुत-सी भोजन की सामग्री अस्त्र-शस्त्र मिले। तथा बहुत-सी लड़कियाँ भी उसमें मिलीं उन्होंने जो रोमांचकारी अपने ऊपर बीती बातों का वर्णन किया उससे पत्थर का हृदय भी दहल जाता है, वह लड़की भी मिली जिसे खोजते हुए उसका पति आया था। यह गतवर्ष की ही तो बात है अब उन सब लोगों को ८-८, १०-१० वर्ष का कारावास दंड मिला. बाबा को भी स्यात् ३ वर्ष का दंड मिला।

उस स्थान पर जाकर क्षण भर को ही सही मुझे बड़ा वैराग्य हुआ। निश्चय ही बाबा को कोई तांत्रिक सिद्धि रही होगी, वह तो उसकी मूर्ति और उपासना पद्धति से ही प्रतीत होता है, किन्तु मनुष्य क्या-से-क्या हो जाता है, पहिले जो बाबा को ईश्वर मानते थे, वे अब अपने को उनका शिष्य कहने में भी भय खाते हैं। जब वे पकड़े गये तो जिन-जिन के यहाँ उनके चित्र थे, सभी ने फाड़कर फेंक दिये, सभी इस बात को छिपाने लगे कि हमारा बाबा से कोई सम्बन्ध था। ऐसी तो इस लोक की मान्यता है, इसीलिये मैं अपने मन को बार-बार समझाता हूँ, तू इस अनर्थ-

कारी लोक मान्यता के लिये क्यों लालायित रहता है। इससे न तो भगवान् ही मिलेंगे, न सुख शान्ति की ही उपलब्धि होगी।

किसी क्षुद्र सिद्धि के सहारे तेरे द्वारा किसी को धन मिल गया, पुत्र मिल गया, तो तेरा तो अभिमान ही बढ़ेगा। मैंने ऐसा सुना है, कि प्रेत सिद्धि वाले सदा विष्ठा रखते हैं और मरते समय प्रेत आकर उसके मुख में विष्ठा डाल देता है जिससे मर कर वह भी प्रेत बने। जैसे देवता की उपासना करोगे वैसा ही बनना पड़ेगा। भगवान् ने गीताजी में कहा भी है—

"देवान् देवजयो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि"

अर्थात् जो देवताओं की उपासना करते हैं वे देवताओं को प्राप्त होते हैं मेरी उपासना करने वाले मुझे प्राप्त होते हैं। भूत, प्रेत, पिशाच आदि की भी देवताओं में ही गणना है, ये क्षुद्र देवता हैं अतः भूत प्रेत का उपासक भूत प्रेत ही बनेगा। इसीलिये भागवतकार बारम्बार कहते हैं तुम क्षुद्र सिद्धियों के चक्कर में मत पड़ो। क्षुद्रदेव क्षुद्र कामना पूर्ण तो कर देते हैं, किन्तु उसका परिणाम दुःखद होता है, वे अधोगति की ओर ले जाते हैं। अतः तुम्हें चाहें संसारी कामना हो या पारमार्थिक कामना। अकाम हो, सर्वकाम हो अथवा मोक्ष की कामना हो तीव्र भक्ति योग से परमपुरुष परमात्मा का ही भजन करो। इससे तुम्हारी लौकिक कामना तो पूर्ण होगी ही, साथ ही अधोगति से बचकर सद्गति की ओर ही बढ़ोगे।

क्षुद्र देवताओं की उपासना में तो यह भी बात है कि उसमें विधि विधान सांगोपांग न हुआ तो लाभ के स्थान में उलटी हानि

अकामः सर्व कामो वा मोक्षकाम उदारधी.।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत् पुरुषं परम् ॥
(श्री भा० २ स्क० ३ अ० १० श्लो०).

होगी। हम नित्य ही सुनते पढ़ते हैं अमुक ने किसी के उद्देश्य से मूँठ या कृत्या चलायी, विधान में त्रुटि होने से उस कृत्या ने पलटकर चलाने वाले का ही सिर काट दिया। किन्तु भगवत उपासना में वह बात नहीं है। विधि विधान पूरा भी न हो, कोई त्रुटि या विघ्न भी आ जाय तो अमंगल नहीं होता। यही बात नारदजी ने व्यासजी से कही है। उन्होंने कहा—"देखिये व्यास जी! पुरुष अपने निजधर्म वर्ण आश्रम सम्बन्धी कर्तव्य—को छोड़कर श्रीहरि के चरणकमलों का भजन करता है, उसका यदि भजन सिद्ध होने के पूर्व ही किसी कारण से पतन हो जाय, किसी दैवी विघ्न से भजन करना छूट जाय, या बीच में ही मृत्यु हो जाय तो उसका क्या कहीं अमंगल हो सकता है? अर्थात् उसका सभी दशा में मंगल ही होगा, उसका भजन कभी व्यर्थ जायगा ही नहीं। किन्तु जो भगवान् का भजन तो करता नहीं। स्वधर्म की रट लगाये रहता है ऐसे स्वधर्म से भी क्या लाभ होगा?

श्रीमद्भागवत् का कथन यही है, कि देखो, कोई भी नहीं चाहता कि हमें ज्वर आवे, फोड़ा हो या दूसरे कोई रोग हों, किन्तु न चाहने पर भी प्रारब्धवश दुःख शोक तथा रोग आदि होते ही हैं, जैसे बिना चाहे दुःख आ जाते हैं, ऐसे ही प्रारब्ध के अनुसार सुख बिना भी चाहे आ सकते हैं, फिर दिन रात्रि संसारी सुखों के लिये ही प्रयत्न करते रहना व्यर्थ है, यत्न करना ही है,

---

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेः
भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किम्
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥
(श्री भा० १ स्क० ५ अ० १७ श्लो०)

तो भगवत् प्राप्ति के लिये करना चाहिये। दुख-सुख तो कर्मानुसार आते जाते ही रहेंगे। हमारे सब कार्य इहलौकिक तथा पारलौकिक भगवान् को ही निमित्त मानकर होने चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं, आप फिर वे ही पुरानी अन्ध विश्वास की बातें करने लगे। यह विज्ञान का युग है इसमें वही सत्य-नारायण की कथा वही भागवत् सप्ताह नहीं चलेगा। आज तो जो बात विज्ञान से सिद्ध होगी वही मानी जायगी, अब हम बहुत उन्नत बन चुके हैं, हमने प्रकृति पर विजय करली है।"

हम कहते हैं, आपने बहुत उन्नति करली, अब आप भूमिपर न चलकर आकाश में उड़ने लगे, घर बैठे ही विदेशों में बैठे लोगों से बातें कर लेते हैं, वहाँ के चित्र देख लेते हैं, नाटक, नृत्य सुन लेते हैं। अच्छा इसमें आपको मिल क्या गया? जो देश भौतिक विज्ञान में अत्यधिक उन्नत हो गये हैं' उनमें मानसिक अशान्ति और भी अधिक बढ़ गई है, उसमें दैहिक सुखों की लालसा अत्यधिक बलवती बन गयी है। सुख दुख कुछ साधन सामग्रियों पर तो निर्भर है नहीं। उसका सम्बन्ध तो मन से है, जिसकी जितनी ही बड़ी तृष्णा है लालसा है वह उतना ही बड़ा दुखी है, जिसकी जितनी ही भोग तृष्णा कम है, वह उतना ही सुखी है यह भौतिक विज्ञान तो अन्धा है, जड़ है तुम चाहे उसकी उन्नति में पराकाष्ठा पर पहुँच जाओ कभी तुम्हें सुख शान्ति न मिलेगी। हम सत्य कहते हैं सत्यनारायण की कथा, भागवत् सप्ताह थोड़ी देर को मान लो कुछ भी नहीं है, किन्तु उसमें जो छिपी भावना है उसे तो देखिये। जिस दिन कथा सुनते हैं उस दिन हम पुण्य न भी कर सकें तो भरसक पापों से बुरे कर्मों से बचने की चेष्टा तो करेंगे। एक प्रकार की मानसिक शांति का अनुभव तो करेंगे एक श्रमिक है दिन भर श्रम करके एक रुपया पैदा करता है, उसमें से एक दो आने नित्य बचाता है। जब उस पर पचास

सौ रुपये हो जाते हैं स्त्री बच्चों को साथ लेकर प्रयागराज आता है, एक बुढ़की त्रिवेणी में लगाता है वह अपने सम्पूर्ण श्रम को सफल मान लेता है। सिनेमा नाटकों नाच गानों में और क्या होता है, इतना धन व्यय लोग क्यों करते हैं ? क्षण भर के इन्द्रिय सुख के लिये। इन स्त्री पुरुष पात्रों की छाया में ही कुछ क्षण अपने को भूल जाते हैं त्रिवेणी का गोता तो पूरे जीवन भर स्फूर्ति देता है, जब भी प्रसंग चलता है हम आत्मतृप्ति के साथ कहते हैं। तीर्थराज में तो एक बार हमने भी गोता लगाया है।

भागवती कथा हमें जीवन में स्फूर्ति दे तब तो उसका कहना, सुनना, लिखना पढ़ना, सार्थक है। यदि कोरा लिखने पढ़ने का व्यसन ही हो, अन्य व्यसनों से तो भी उत्तम ही है। हम भागवती कथा को कह सुनकर अपने जीवन को बना सकें. प्रभुपाद पद्मों तक पहुँच सकें, हृदय को प्रेम जल से परिप्लावित कर सकें। मन को श्याम रंग में रँग सकें, वृत्तियों की गति को बनवारी की ओर बदल सकें, तब तो हमारा प्रयास सफल है, यह सब होगा तभी जब वे कृपा करें, वे हमें अपनी ओर खींचें। जीवन की धारा संसारी कामना पद प्रतिष्ठा पैसा आदि धनकी इच्छा से बदल कर श्रीकृष्ण की ओर लग जाय यही कथा का फल है। यदि यह न हुआ तो वणिक् वृत्ति है. परमार्थ के नाम स्वार्थ है, परोपकार के मिस से व्यापार है।

जीवन की धारा कुछ ऐसी बह रही है, कि हम जो चाहते हैं, वह कर नहीं सकते। जिसे करना नहीं चाहते उसे विवश होकर करना पड़ता है, जहाँ जाना नहीं चाहते, वहाँ जाना पड़ता है, जहाँ रहने की इच्छा नहीं होती है वहाँ रहना पड़ता है, जिनका संग करना चाहते हैं प्रारब्ध ने उन्हें हमसे बहुत दूर पटक दिया है, जिनका साथ नहीं करना चाहते उनके साथ विवश होकर रहना पड़ता है। ब्रजवासी चाहते थे, श्रीकृष्ण सदा हमारे

साथ ही रहते, सदा हमें वे ही सुख देते, रास विलास रचाते, गौएँ चराते, किन्तु अक्रूर आये व्रजवासियों की इच्छा के विरुद्ध राम श्याम को मथुरा ले गये। रथ पर चढ़कर श्यामसुन्दर मधुपुरी को चले गये और ऐसे गये कि फिर लौटकर आये ही नहीं। इसे विधि की विडम्बना न कहें तो और क्या कहें। आशा थी, श्यामसुन्दर कभी आवेंगे, किन्तु वे स्वयं तो नहीं आये, उद्धव के हाथों ज्ञान का सन्देश भेजा। व्रजवासी समझ गये, प्रारब्ध ने हमें ठग लिया है, भाग्य ने हमारे साथ खिलवाड़ की है उन्होंने कृष्ण को व्रज में आने के लिये संदेश नहीं भेजा। भाग्य को मिटाने की प्रार्थना नहीं की प्रारब्ध को बदल देने की बिनती नहीं की। बड़े मार्मिक शब्दों में उन्होंने एक ही विनती की। मेरा भी जन्म व्रज में ही हुआ है, इसी नाते मैं भी व्रजवासी ही हूँ, श्याम से मेरा भी कुछ सम्बन्ध है, वह निष्ठुर न माने यह दूसरी बात है, व्रजवासियों ने उद्धवजी के द्वारा जो प्रार्थना की थी उसी को व्रजवासी होने के नाते मैं, भी अपने श्यामसुन्दर से करता हूँ—

व्रजवासियों ने कहा था—"हम सब प्रारब्ध के अधीन हैं जैसे कोई नट कठपुतली को घुमाता है। यन्त्री यन्त्र को फिराता है, बाजीगर बानर को नचाता है वैसे ही कर्म चक्र में पड़े हुए हमें ईश्वर अपनी इच्छानुसार घुमा रहा है। हे श्यामसुन्दर ! प्रारब्धानुसार हम जहाँ-जहाँ भी रहें, जहाँ भी हमें रहना पड़े भाग्यवश जो भी करना पड़े। जहाँ-जहाँ भी जन्म लेना पड़े। वहाँ-वहाँ इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में दैवयोग से कोई मंगलमय कार्य हो जाय अथवा कोई पुण्यदान बन पड़े तो उन सबका हम यही एक फल चाहते हैं हमारी मति सदा तुम श्रीकृष्ण ईश्वर में ही बनी रहे। तुम्हें कहीं भी—किसी भी दशा में भी हम भूलें नहीं ? क्या व्रजवासी के नाते हे व्रजवल्लभ !

इतनी भीख दोगे क्या ? क्या तुम्हारे राज्य में ब्रजवासियों की सुनायी होगी—

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिनः कृष्ण ईश्वरे ॥
(श्री भा० १० स्क० ४७ अ० ६७ श्लो०)

छप्पय

करम चक्र महँ भ्रमत जनम जहँ जहँ प्रभु होवे।
दैव योग तप दान धरम मन जो जो जोवे॥
तिनि सबको फल एक नाथ? तुम तैं यह चाहूँ।
तव पद रति मति होय कबहुँ नहिँ तुमहिँ भुलाऊँ॥
चाहूँ हीं सुमिरन सतत, नहिँ माँगूं मम दुख हरौ।
ब्रजवासी की विनय प्रभु, वरदाता पूरन करौ॥

—०—

श्री भागवती कथा महिमा

वन्दना

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणत क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥❀

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यम्
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः
तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥❀
(श्री भा० १ स्क० २ अ० २ श्लो०)

छप्पय

सब जगके जो बीज विश्वद्रुम जिननि बनायो ।
जिननि मोह को जाल सकल भुवननि फैलायो ॥
ब्रह्मा, विष्णु, महेश बनें करि पालें नासें ।
त्रिविधि ताप सन्ताप सबनि के सपदि विनासें ॥
सतचित आनन्द रूप जे, कृष्णचन्द्र जिनि नाम है ।
सर्व प्रथम मम इष्ट जे, तिन पदपद्म प्रनाम है ॥

❀ श्री कृष्ण, वासुदेव, हरि, परमात्मा प्रणतों के क्लेश नशाने वाले तथा गोविन्द भगवान् के लिए बारम्बार नमस्कार है।

❀ सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मैं उन सर्वभूत हृदय मुनिवर भगवान् शुक को नमस्कार करता हूँ जो लौकिक वैदिक सभी प्रकार के कर्मों को त्यागकर अकेले ही वन को चले गये। उस समय उनके पिता भगवान्

उन प्रेम प्रदाता, प्रणत प्रतिपालक, प्रत्येक प्राणी को प्रेमप्रदान करने वाले पीताम्बर धारी प्रभु के पाद पद्मों में प्रणाम है। जिनके निर्मल नखों की ज्योति से भक्तों के हृदय का अंधकार तत्काल भग जाता है, उन भगवान् को नमस्कार है, जिनके चरण तल की रेखाओं की रज से रंजित होने वाला प्राणी राग से रहित बन जाता है उन राधारमण की हम शरण हैं। जिनके अरुण-वरण के चरणारविन्दों की मकरन्द से मत्त हुए मधुकर रूप भक्त उन्हीं में अनुरक्त हो जाते हैं उन अखिलेश अच्युत की ही हम बारम्बार वन्दना करते हैं। गोचारण के समय सखागण अपनी गोदी में रखकर जिन चरणों को सुहलाते हैं दबाते हैं जिनके रोओं को स्पर्श करते ही सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो जाता है उन वृन्दावन विहारी गोपाल कृष्ण का हम अभिनन्दन करते हैं। पीताम्बर से आवृत जिनके जघनों को निहार व्रजाङ्गनायें ललचा जाती हैं। जो मृदुल सरस सुभग साँवले और सलोने हैं उन गोपी जन वल्लभ राधारमन, गोप वधूटी दुकूल चोर श्यामसुन्दर की हम स्तुति करते हैं। त्रिवली से आवृत जिनका उदर पीपर के पत्ते के सदृश उतार चढ़ाव का है, जिसमें न जाने क्या-क्या भर रहा है। जिसमें माता ने रोष के कारण दाम बाँध दी थी, उन दयानिधान दामोदर की दया के हम इच्छुक हैं। जिनका वक्षः स्थल मणि मुक्ताओं की मालाओं से, वन माला, तुलसी माला और घुँघची की मालाओं से आवृत है, जो श्री वत्स के चिह्न से चिह्नित है, जो लक्ष्मीजी के निवास का एकमात्र स्थान है, जो व्रजाङ्गनाओं की कुच कुंकुम कीच से

द्वैपायन पुत्र शोक से शोकाकुल होकर पुत्र-पुत्र कहकर चिल्लाते हुए उनके पीछे दौड़े श्रीशुक तो सभी प्राणियों में तन्मय हो गये थे उसी तन्मयता के कारण वृक्षों ने व्यासजी को उत्तर दिया, ऐसे गुरुवर को पुनः-पुनः प्रणाम है।"

सन जाने के कारण सुगन्धित हैं, उन रासविहारी रासेश्वर की हम स्तवनः करते हैं। जिनके उभय अरुण करकमलों में कमल नाल खड के सदृश सप्त छिद्र वाली बाँसुरी विराजमान है, जिसे वे कुछ झुककर कुछ झूमकर मुसकराकर, कुछ टेड़ी करके अपने अरुण, मृदुल,सुघर सलौने रसीले लचीले लजीले अधर और ओष्ठ के बीच दबाकर, कपोल फुलाकर बजा रहे हैं, उस मुरली धारी बिहारी सब दुखहारी, सुखकारी अघारी वनचारी, विपत्ति-विदारी बनवारी का हम बार-बार वन्दन करते हैं। जिनके अरुण अधर और ओष्ठों के भीतर से रस भरे दाड़िम के दानों की पंक्तियों के समान शुभ्र दन्तावली कुछ कुछ दिखाई दे रही है उसकी प्रभा से आभा से निर्मल ज्योति से शरणागतों के मन मुकुर खिल गये हैं उन शोभा के धाम नयनाभिराम घनश्याम की हम शरण में हैं। जिनके कपोल द्वय कमनीय कनक कुण्डलों की आभा से दमक रहे हैं, हिलते हुए कुण्डलों के, माणिक्य नवनीरद की प्रभा वाले मुख की छटा के साथ मिलकर चमक रहे हैं। मन्द मन्द हास्य के कारण जो गोल होकर कुछ उभरे हुए अरुण वरण के बन गये हैं, पूर्णचन्द्र के समान जिनके अनुपम आनन से शीतल सुखद अगणित किरणें छिटक रही हैं उन चन्द्रवदन दुःख दारिद्र दलन भव भय हरन मंगल करन विश्व भरन, अमृत सुधा माधुरी झरन श्रीराधारमन गिरिवर धरन के सुखकर चरणों की हम सदा शरण में हैं। जिनके बड़े बड़े अनियारे सुख कारे, कजरारे कमल नयन व्रज-बालाओं के नयनों में तिरछे होकर गड़ जाते हैं जो भक्तों की भव-भीति को भगाने के लिये अन्यर्थ सर के सदृश है जो हृदय में व्याप्ततम को अपने अनुपम अद्भुत अलौकिक आलोक से छिन्न भिन्न करने में समर्थ हैं, उन नयनाभिराम नूतन नवनीरद के समान,नयनों की कृपा कोर की हम अहर्निश आकांक्षा करते हैं। जिनके पावन पलकों

की तनिक सी झलक के निमित्त असंख्यों अबलायें अपलक ब्रज वीथियों मे बैठी बाट जोहती रहती हैं, उन ब्रज वनिता धन, आनन्द घन मदनमोहन, अशरन शरन के गोधन चारन हित ब्रज वन-वन फिरन, युगल चरनों के हम शरन हैं।

जिनकी कमान के समान वंक भ्रूकुटि पर सर के समान चढ़े सरस सुखद सैनों की चोट के लिये तरु-लताओं तथा घर की ओट में खड़ी आभीर ललनायें ललचाती रहती हैं और तक कर लग जाने से घायल बनी दुख सुख के बीच में बिलखती सिसकती थकती झकती रहती हैं, उन वंक भ्रूकुटिवारे वनवारी की कृपा के हम इच्छुक हैं। जिनके ललित ललाट पर केशर कस्तूरी का तिलक शोभायमान है। जो भव्य है, विशाल है, रसाल है जिसे क्षुद्र अलकावली झार बुहार रही हैं, हिलहिल कर मिल रही हैं। खेल रही हैं, उन मनोहर मस्तक वाले मनमोहन की दया के हम भिक्षुक हैं।

कमल बदन पर बिथुरे, कारे, सटकारे, कुटिल केश जो प्रफुल्लिपंकज रस पान मे मत्त भ्रमरावली के सदृश प्रतीत होते हैं, जो अपनी कुटिलता के कारण कामिनियों को प्रेम पाश के सदृश प्रतीत होते हैं। उन घुँघराले काले बालों वाले ब्रजवनिता वल्लभ बाँके बिहारी की हम बार-बार वन्दना करते हैं। उनसे हमारी एक ही भीख है वे हमें देखते रहें, निहारते रहें, अपनी कृपा दृष्टि की वृष्टि बराबर करते रहे।

पारम हंस्य पद पर प्रतिष्ठित, प्रणत प्रण पालक, पराविद्या प्रवीण, पराशर पौत्र, व्यासनन्दन भगवान शुक के पाद पद्मों में भी हम पुनः पुनः प्रणाम करते हैं। प्रभो! हमें आप प्रभुपाद पद्मों तक पहुँचा दो। प्रेम का पुण्य पथ बतादो। सत्य का सुगम सरल-सा मार्ग दिखादो। प्रभो! आपने लौकिक-वैदिक सभी कर्मो को जन्मते ही त्याग दिया। आप निसंग होकर एकाकी ही वन को

ओर चल दिये। माता, पिता, परिवार तथा परिजनों के प्रेम की अपेक्षा नहीं की। सर्वस्व त्यागी, वीतरागी, विरागी बन गये। पागलों की भाँति प्रेम में प्रलाप करते हुए पिता भी पुनः-पुनः पुत्र-पुत्र कहते हुए पीछे-पीछे भागे। किन्तु आप वन की ओर बढ़ते ही गये, बढ़ते ही गये। न खड़े हुए न पीछे मुड़कर देखा ही। अहा! कैसी निरपेक्षता का आपने पाठ पढ़ाया, कैसा अलौकिक भाव दर्शाया, त्याग वैराग्य का कैसा अनुपम आदर्श उपस्थित किया, वेदों का विभाग करने वाले वयोवृद्ध व्यासजी को भी वियोग-वेदना ने व्याकुल बना रखा था, वे भी आपका पीछा करते ही गये, करते ही गये। तब आपने तन्मयता का दिगन्त-व्यापी दृश्य दिखाया। प्रत्येक तरु-पल्लव से पुत्र-पुत्र का आलाप सुनाया। सर्वज्ञता का, सर्वव्यापकता, का चराचर में एकत्व का अनुपम उदाहरण उपस्थित किया। कैसा है आपका त्याग कैसी है आपकी कठिन तपस्या, कैसा है अच्युत चरणारविन्दों में अनुराग। नाथ! उसकी झाँकी हमें भी दिखादो न? हमें भी इस माया मोह से छुड़ा दो, हमारे सिर पर चढ़ी इस प्रतिष्ठा लालसा भूतिनी को भी भगा दो। कब हम तुम्हारे पुण्य पथ का अनुसरण कर सकेंगे। कब संसारी विषय वासनाओं के त्याग में समर्थ हो सकेंगे। प्रभो! संसार के हित के ही लिये आपने अवतार धारण किया है। हे देव! आप श्रीकृष्ण के अभिन्न वपु हैं, आपमें और श्याम में कोई अन्तर नहीं। कोई भेद भाव नहीं। आपने रसिकता, सरसता भक्ति और प्रेम में त्याग, वैराग्य, उपरति तथा जगउदासीनता का संमिश्रण और कर दिया है, नहीं तो आप आनन्द कन्द श्रीकृष्ण चन्द्र के रूप ही हैं।

वैसी ही आपकी किशोरावस्था, वैसे ही अरुण वरण के कोमल कमल सदृश चरण, वैसे ही उत्तम उरुद्वय, वैसे ही भव्य भुजायें, वैसे ही कमनीयलोल गोल मधुर कपोल, वैसे ही नवनी-

रद के सदृश नुकीले नयन, वैसी ही उन्नत उत्तम नवी हुई नुकीली नासिका, वैसे ही सुकुमार सुन्दर समान कान, वैसा ही मन्द-मन्द मुसकान से युक्त मनोहर मुखारविन्द, वैसी ही कमान के समान कटीली कुटिल भ्रकुटिद्वय, वैसा ही विशाल वक्षःस्थल, वैसी ही शंख के समान सुहावनी ग्रीवा। सभी में तो समानता है। असमानता का आभास भी नहीं। केवल पीताम्बर को फेंक कर कैशोर में भी बाल लीला के दर्शन कराये हैं। मुरली न लेकर दोनों कर कमल उन्मुक्त कर दिये हैं। वंशी, वनमाल, भूषण, पीताम्बर, मोरमुकुट, घुंघची माला आदि सभी वस्त्र-भूषणों के स्थान में रज का व्यवहार करके आपने एकत्व की अद्वितीयता का आदर्श उपस्थित किया है।

हे देव! आपने विष्णुरात राजर्षि परीक्षित् का ही उद्धार नहीं किया। सहस्रों असंख्यों संसार सर्प से डसे हुए लोगो को निर्विष बनाकर उस पार पहुँचा दिया। आपने केवल कलिकाल से प्रताड़ित परीक्षित् को ही कथा नहीं सुनाई, किन्तु कलियुग में आपने ऐसी सुदृढ़ नौका का रूप दे दिया है, जो निरन्तर भूले-भटके पथिकों को उस पार पहुँचा कर कल्याण नगर की ओर भेजती रहती है।

हे गुरुदेव! अज्ञान रूप अन्धकार आप की ही असीम कृपा से छिन्न-भिन्न हो सकता है। संसार सागर में डूबते हुये हम लोगों को आश्रय एक मात्र आपके ही युगल चरण कमल हैं। वे गहन गम्भीर उर्मिवाले संसार सागर में रह कर, भी म्लान नहीं होते प्रत्युत और अधिक प्रफुल्लित होते हैं। उन्हीं जलज युगल चरणों की हम वन्दना करते हैं। उन्हीं के सम्मुख हम अपने मस्तक को रगड़ते हैं। उन्हीं के आगे हम दण्ड के सदृश लेटते हैं। प्रभो! रक्षा करो! स्वामिन्! अपनी शरण में लेलो, ज्ञानाञ्जन शलाका से हमारे अज्ञानावृत नयनों को खोल दो। संसारी तापों

से, काम क्रोधाग्नि की लपटों से, शुष्क हुए हमारे हृदय को भक्ति वारि से सींच दो, प्रेमामृत से सराबोर कर दो। हे देव यही! इस दीन हीन मति मलीन की विनय है। वन्दना स्वीकार करें देव पुनः-पुनः प्रणाम है, वन्दन है, नमन है, प्रणति है। देव! दया करो, कृपालो कृपा करो। शरणागतवत्सल शरण दो।

छप्पय

लौकिक वैदिक करम त्यागि जन्मत वन भागे।
जिनकूँ नहिं धन, धरम, करम कछु अच्छे लागे॥
सुत सुत कहि पितु भगे द्रुमनि महँ सुत दरसायो।
पितु पितु सब तरु कहें व्यास को मोह नसायो॥
तरुन अरुन वर नयन तनु, सुन्दर सुगठित श्याम है।
गुरुवर श्री अवधूत मुनि, शुक पद पदुम प्रनाम है॥

—०—

श्री भागवत-कथा-अमृत

[२]

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्त त्यन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० १ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

शौनक बोले—सूत ! भागवत् चरित सुनायौ।
किन्तु न कह्यो महात्म चित्त ता हित ललचायौ ॥
जिओ बहुत दिन सूत ! महातम हमें सुनावें।
वस्तु महातम सुनत भक्ति श्रद्धाहिय आवें ॥
सूत कहें—कहँ तक कहूँ, मुनि ! महात्म अति अकथ है।
जलनिधि अगम अथाह जिह, तामें तैरत थकत हैं ॥

अमृत की बड़ी प्रशंसा है। इसी लोभ से देवता और असुरों ने मिलकर बड़े कष्ट से समुद्र का मंथन किया। अमृत को लेकर कोई साधारण देवता नहीं-भगवान् के अवतार-श्रीधन्वन्तरि-

---

*कथा सुनते-सुनते महाराज परीक्षित् कह रहे हैं"—हे भगवन् ! भूख को लोगों ने दुस्सह बताया है, किन्तु आपके कमल मुख से निस्सृत हरि कथामृत का पान करने से अन्न के साथ जल भी छोड़ देने पर यह भूख मुझे कुछ भी बाधा नहीं पहुँचाती।"

जी निकले। एक तो जो स्वयं भगवान् के अवतार दूसरे अमृत को लिये हुए, उन्हें महाबलशाली होना चाहिये, किन्तु वे ऐसे निर्बल सिद्ध हुए कि असुर उनसे अमृत को छीन ले गये। भगवान् अजित तो देवताओं के पक्षपाती थे ही, वे मोहिनी बनकर असुरों के समीप गये। इधर-उधर की रसीली रँगीली बातें बनाकर असुरों को झाँसा देकर उनसे अमृत छीनकर देवताओं को पिला दिया। उस अमृत के घड़े को देवताओं ने स्वर्ग में रख दिया, बड़े-बड़े यन्त्र-तन्त्र उसकी रक्षा में लगा दिये, फिर भी गरुड़जी सबको व्यर्थ बनाकर अमृत पान करने वाले अमरों के राजा इन्द्र को भी हराकर उस अमृत के कलश को उठा लाये। देवता घबराये, अन्य कोई शरण न देखकर अशरणशरण श्रीविष्णु की शरण गये। श्रीविष्णुजी भी गरुड़ के समीप आये। उन्हें भी उलटी पट्टी पढ़ायी छल करना सिखाया और गरुड़जी ने भी छल का व्यवहार करके नागों के साथ ठगी करके सुरों को ही अमृत पिला दिया जो अमृत सबको ठगी सिखाता है, दुर्बल बनाता है, उस अमृत को पीकर कौन सुखी होगा। वास्तविक अमृत तो वह है, जिससे सभी शोकसंताप सदा के लिये मिट जायँ, भूख,प्यास, जन्म-मरण तथा सभी प्रकार के भय सदा के लिये भग जायँ। ऐसे अमृत का जिन सज्जनों ने पान कर लिया है, उनके पाद पद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम है।

'भागवती कथा' पूर्ण करके, नैमिषारण्य निवासी मुनियों से आज्ञा लेकर सूतजी घूमते-फिरते मर्त्यलोक में आये। जब से सूतजी जन लोक में कथा कहने लगे थे, तब से अब तक मर्त्य लोक में बड़े परिवर्तन हो गये थे। कलियुग तो तब भी था, किन्तु अब तो घोर कलियुग छा रहा था लोगों को धर्म-कर्म की बातें अच्छी ही नहीं लगती थीं। सबकी दृष्टि में संसारी सुख ही सब कुछ थे। परलोक परमार्थ परमात्मा तथा परोपकार इन शब्दों की

लोग खिल्लियाँ उड़ा रहे थे। रोटी कैसे मिले पेट कैसे भरे यही सबके जीवन का चरम लक्ष्य बन गया था। परस्पर में सहानुभूति का अभाव था, एक दूसरे को ठगने के लिये उद्यत हो रहे थे, नाना प्रकार के वाद चल गये थे। वे सब नास्तिक-वाद के ही रूपान्तर थे। सूतजी मर्त्यलोक की ऐसी दशा देखकर चकित रह गये। वे बड़े-बड़े आश्रमों में गये जिन्होंने धर्म प्रचार और परमार्थ का ठेका ले रखा था—वहाँ भी उन्होंने देखा। धर्म के नाम पर दुकानदारी हो रही है आश्रमों में तपोमय जीवन नहीं रहा। वे एक सशुल्क विश्राम गृह से बन गये हैं। आश्रम के दलाल इधर-उधर घूम-घूमकर विपयी लोगों को फँसा कर लाते हैं एक को सिद्ध बना देते हैं, कुछ साधक बन जाते हैं। आश्रम में आकर ठहरने वालों का सब प्रकार से भारी स्वागत सत्कार करते हैं, घर से भी सुन्दर भोग सामग्री उन्हें देते हैं, चलते समय वे आश्रम को कुछ दे जाते हैं, वे सोचते हैं हमने दान दिया आश्रम वाले सोचते हैं, पचास रुपये हमने व्यय किये एक सौ एक मिल गये। इक्यावन रुपये का हमें अपने काम में लाभ हुआ। उन आश्रमों में परमार्थ और सत्संग के नाम पर परनिन्दा तथा परचर्चा ही अधिक की जाती है।

सूतजी सज्जनों के घरों मे भी गये जहाँ पहिले नित्य नियम से कथा होती थी, किन्तु वहाँ भी अब कथा कीर्तन नहीं। कलह हो रही है। भाँति-भाँति के न्यायालय में अभियोग चल रहे हैं। शासक दस्यु अधर्मी हो गये, अकुलीन, अयोग्य नीच प्रकृति के देवता, गौ, ब्राह्मण, वेद, साधु धर्म तथा ईश्वर की निन्दा करने वालों के हाथों में शासन की बागडोर हैं। वे भाँति-भाँति से प्रजा को लूट रहे हैं। धर्म से विमुख करने का उपदेश दे रहे हैं। ब्राह्मणों का प्राचीन आर्ष-ग्रन्थों को तथा वर्णाश्रम प्रक्रिया को उन्नति में बाधक बताया जा रहा है। पुरुष ऐसे भीरू, नीरस कठोर हृदय

वाले राक्षस बन गये हैं, कि वे सन्तति निग्रह करके अन्न बचाने की चिन्ता में हैं। स्त्रियाँ ऐसी असती स्वेच्छाचारिणी और वात्सल्य प्रेम से हीन हो गयी हैं कि वे यथेच्छाचार तो करती हैं किन्तु गर्भ धारण से भयभीत होती हैं, गर्भ निरोध के नाना उपायों को काम में लाती हैं। व्यापारी निन्द्य से निन्द्य काम करने में नहीं डरते। कुछ द्रव्य के लालच से खाद्य पदार्थों में विष मिलाकर बेचते हैं, जिससे असंख्यों असामयिक मृत्यु हो रही हैं। कृत्रिमता का सर्वत्र साम्राज्य है।

तीर्थ स्थान भ्रष्ट हो गये हैं, तीर्थवासी अपने धर्म कर्म से हीन होकर दस्युधर्मी बन गये हैं, देवालय श्रीहीन हो गये हैं। देवताओं की सविधि पूजा नहीं होती, भोगराग का प्रबन्ध नहीं। ऐसा प्रतीत होता है, देवता वहाँ से चले गये हैं, दारिद्रय ने वहाँ अपना डेरा डाल लिया है। कहीं सत्संग नहीं, कथा कीर्तन नहीं, सात्विकता नहीं, सरलता नहीं, स्वच्छता नहीं, शान्ति नहीं, सुख नहीं। सर्वत्र हाहाकार मचा है, कैसे भूख मिटे कैसे पेट भरे इसी की सर्वत्र गूँज है।

सूतजी देश की ऐसी दशा देखकर घबड़ा गये। उन्होंने सोचा—"अब मर्त्यलोक भले मानुषों के रहने योग्य रहा नहीं। कहाँ जायँ किससे बातें करें सभी स्वार्थ में निरत हैं, बिना कथा कीर्तन के मन कैसे लगेगा। चलो जन लोक में ही चलें। वहाँ नित्य नियम से कथा कहने सुनने को मिलेगी। अमल विमल नैष्ठिक ब्रह्मचारी अठासी सहस्र मुनियों का सत्संग होगा यही सब सोच कर कुछ ही समय में मर्त्यलोक से ऊबकर सूतजी फिर जनलोक में पहुँचे। जैसे चकोर चन्द्र की बाट जोहते रहते हैं, वैसे ही वे ऋषिगण सूतजी की बाट जोह रहे थे। सूतजी को आते देखकर वे सबके सब सहसा खड़े हो गये। मारे प्रसन्नता के सभी के रोमांच हो उठे। वे अपनी प्रसन्नता के वेग को सम्हा-

लने में समर्थ न हो सके। सभी के नेत्रों में आनन्दाश्रु छलकने लगे। सबके कण्ठ रुद्ध हो गये। बड़े कष्ट से शौनकजी इतना ही कह सके "स्वागतम्! सुस्वागतम्!!"

सूतजी ने दोनों हाथों की अंजलि बाँधकर सभी ऋषियों को प्रणाम किया और सभी की कुशल पूछी। व्यासासन पहिले से ही लगा था, उस पर सूतजी को अत्यन्त आग्रह से बिठाया। हरिकथामृत के रसास्वादन में निपुण मुनिवर शौनकजी की आज्ञा से मुनियों ने सूतजी को पैर धोने के लिये जल दिया। विधिवत् उनको अर्घ्य आदि दिया।"

पथजनित श्रम को मिटाकर जब सूतजी स्वस्थ हो गये, तब पौराणिक कथाओं के श्रवण के लिये अत्यन्त समुत्सुक बैठे हुए मुनियों की ओर से शौनकजी बोले—"सूतजी! आप चिरजीवी हों, महाभाग! आप जब हमें छोड़कर चले जाते हैं, तब यहाँ हमें सब सूना ही सूना दिखायी देता है।"

सूतजी ने कहा—"क्या करूँ महाराज! कथा प्रसङ्ग समाप्त होने पर इच्छा होती है, चलो कुछ दिन को घूम फिर आवें। मथुरा, वृन्दावन, द्वारका, रामेश्वर बदरीवन तथा अन्यान्य पुण्य तीर्थों के दर्शन कर आवें, किन्तु जब वहाँ जाते हैं तो देखते हैं, न वहाँ कथा है, न कीर्तन है। सबका एकमात्र ध्येय पैसा पैदा करना रह गया है। तब चित्त खिन्न हो जाता है, इसलिये सत्संग के लोभ से फिर आप लोगों की सेवा में आ जाता हूँ।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ सूतजी! अब मर्त्यलोक रहने योग्य रहा नहीं। सभी स्थानों पर कलियुग ने अपना प्रभाव जमा लिया। इसीलिये तो हम नैमिषारण्य के परम पावन क्षेत्र को छोड़ कर यहाँ जनलोक में आ गये। हरि कथा ही हमारा आधार है, आप कथा कहने में अत्यन्त निपुण हैं। अज्ञान रूप अन्धकार को भगाने के लिये आप करोड़ों सूर्यों के समान कान्तिमान् हैं।

आपके मुख से कथा सुनते सुनते हमारी तृप्ति ही नहीं होती। इसीलिये हम चाहते हैं आप सदा सर्वदा हमारे साथ रहें।"

सूतजी बोले—"महाराज ! मैं तो सदा आपके समीप ही रहता हूँ। कथावाचक को कुछ इधर-उधर घूमना-फिरना भी चाहिये, इससे उसके ज्ञान में वृद्धि होती है। देशाटन से नये-नये अनुभव होते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी ! आपका कथन यथार्थ है, देशाटन से बहुत अनुभव होता है। अच्छा अब आप कोई कथा सुनाइये।"

सूतजी ने पूछा—"कैसी कथा सुनाऊँ ? मुनिवर !"

शौनकजी बोले—"ऐसी कथा सुनाइये सूतजी ! जो कानों को अत्यन्त प्रिय हो। जिसके श्रवण करने से भक्ति, ज्ञान, वैराग्य तीनों की प्राप्ति हो, विवेक की अधिकाधिक वृद्धि हो। भगवत् भक्त माया जनित मोह सागर को कैसे सरलता सुगमता से पार हो सकें इसका उस कथा में उपाय हो। विशेष कर कलिकाल के जीवों का जिससे उद्धार हो सके ऐसे कथा प्रसंग को आप कहें।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! कलियुग तो पाप का बन्धु है। इसके प्रभाव से जीवों की पाप कर्मों में स्वाभाविकी रुचि है, अभी मैं देखकर आया हूँ। वहाँ जैसे पाप, व्यभिचार, छल, कपट आदि क्रूर कार्य हो रहे हैं, उन्हें देखकर हृदय फटने लगता है। हाय ! मानव प्राणी का इतना भी पतन संभव है ?"

शौनकजी यह सुनकर गंभीर हो गये और कुछ रुककर कहने लगे—"महाभाग ! यह तो युग का धर्म ही है, इसमें किसी का दोष नहीं। इस विकराल कलिकाल में प्रायः जीव आसुरी स्वभाव के हो जाते हैं। उनके हृदय से दया दाक्षिण्य, सत्य सदाचार आदि सद्गुण विलुप्त हो जाते हैं, इसीलिये वे सदा भाँति-भाँति के आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक क्लेशों से

क्लान्त बने रहते हैं। मेरे पूछने का यही तो अभिप्राय है, कि उनका उद्धार कैसे हो ? ऐसे कलियुगी जीवों की भी जिस उपाय से शुद्धि हो सके उस उपाय को आप हमें बतावें। इसी सम्बन्ध की कोई कथा सुनावें। शुद्धि का साधन सरल हो सुगम हो, उत्तम से उत्तम हो, कल्याणकारी उपायों में से भी परम कल्याणकारी हो, परम पावन हो और जिससे निरन्तर भगवत स्मृति जागृत होती रहती हो तथा जिसके द्वारा श्रीकृष्ण चरणारविन्दों की प्राप्ति हो सके। कृपा करके ऐसा ही कोई उपाय आप इस समय हमें बतावें।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो ! मैं सर्वथा अयोग्य हूँ, आपको क्या बता सकता हूँ। क्या दे सकता हूँ। आप ही मेरे मुख से जो कहलाना चाहें कहला लें।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! संसारी सम्बन्धी क्या देंगे, यथार्थ देने में तो आप ही समर्थ हैं। संसार में कोई अधिक से अधिक देगा, तो चिन्तामणि दे देगा। उससे लौकिक चितायें हट सकती हैं केवल विषय भोग की सामग्रियाँ जुट सकती हैं। मर्त्य-लोक के प्राणियों की बात छोड़ दीजिये देवताओं के राजा इन्द्र भी यदि प्रसन्न हो जायँ तो क्या देंगे, विमान, अप्सरा, नन्दन-कानन तथा अन्यान्य स्वर्गीय सुख। इनके अतिरिक्त वे भी कुछ नहीं दे सकते और यदि आप ज्ञानदाता गुरु प्रसन्न हो जायँ, तो औरों की तो बात ही क्या साक्षात् भगवान् को दे सकते हैं। भगवत् प्राप्ति करा सकते हैं। सो हे महाभाग ! यथार्थ दाता तो आप ही हैं। अब आप हमें कलिकल्मषकाटिनी कलित कथा सुनाइये।"

शौनकजी की ऐसी बात सुनकर सूतजी का हृदय भर आया, उनके नेत्रों में आनन्द के अश्रु छलकने लगे, कंठ रुद्ध हो गया। अश्रु पोंछकर तथा खांस मठार कर वे बड़े कष्ट से शनैः-शनैः

कहने लगे—"शौनकजी! संसार में जीवन का यथार्थ लाभ तो आपने ही पाया है। आपके हृदय में प्रेम का अपार अगाध समुद्र निरंतर हिलोरें मारता रहता है, उसकी थाह कोई पा नहीं सकता भगवान् वासुदेव के प्रति आपके अन्तःकरण में कितना प्रेम है, उसे मैं कह नहीं सकता। महाभाग! आपके सत्संग से मैं भी धन्य बन गया। आपने जो प्रश्न किया है, लोक के कल्याण की भावना से किया है, अतः संसार के भय को नाश करने वाले, भक्ति के प्रवाह को विवर्द्धन करने वाले, श्रीकृष्ण प्रेम की प्राप्ति कराने वाले, सर्वशास्त्र सिद्धान्त के सारभूत उस साधन का वर्णन मैं आपके सामने करूँगा, जिससे भक्ति, ज्ञान, तथा वैराग्य ये सब साथ ही बढ़ें और विवेक हृदय में उदय हो। उस साधन को मैं आपसे बता भी चुका हूँ।"

शौनकजी ने कहा—"कब बताया सूतजी! मैंने तो अभी प्रश्न ही किया न?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! मैंने आपके इस प्रश्न का बहुत ही विस्तार के साथ उत्तर दिया है। मैंने बार-बार अनेक दृष्टान्त दे देकर इस साधन को समझाया है, फिर भी उसे दुहराता हूँ, वह साधन है श्री भागवती कथाओं का श्रवण करना, भगवत् चरित्रों का नित्य नियम से पाठ करना। कालरूपी विकराल महाव्याल के विष से बचने के लिये कलिकाल में व्यासनन्दन मेरे गुरुदेव श्री शुकदेव ने एक श्रीमद्भागवत को ही सर्वोपयोगी साधन बताया है। अंतःकरण की शुद्धि के लिये इससे बढ़कर न कोई साधन है और न उपाय। श्रीमद्भागवत के श्रद्धा सहित श्रवण से, प्रेमपूर्वक किये हुए पाठ से सभी दोष दुःख दूर हो जाते हैं, फिर वह श्रवण पाठ चाहे संस्कृत भाषा में हो या प्राकृत देशी भाषा में। किंतु भागवत की प्राप्ति सभी को नहीं हो सकती। जब

पुरुष के पूर्वजन्म के पुण्य पुञ्जों का उदय हो तब उसे भागवत का प्राप्ति होती है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आपका कथन अक्षरशः सत्य है। श्रीमद्भागवत सर्वोत्तम साधन है, इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही न्यून है। आपने हमें श्रीमद्भागवत तो सुनायी, किन्तु इसके श्रवण का माहात्म्य तो सुनाया ही नहीं। बिना माहात्म्य ज्ञान के उस विषय में प्रवृत्ति नहीं होती।"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! भागवत में जितना माहात्म्य मेरे गुरुदेव ने कहा, उतना मैंने आपको सुना ही दिया। हाँ पद्म-पुराण स्कन्दपुराण आदि अन्य पुराणों में इस भागवतामृत का माहात्म्य विशेष रूप से वर्णन किया गया है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आप श्रीमद्भागवत को अमृत की उपमा क्यों देते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! अमृत की उपमा तो केवल उप लक्षण मात्र है, वैसे तो यह कथामृत स्वर्ग के अमृत से अनन्त गुणी श्रेष्ठ है। इसे तो मेरे गुरुदेव ने देवताओं के कहने पर सबके सम्मुख स्पष्ट सिद्ध करके दिखा दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भगवान् शुक ने कैसे स्पष्ट करके दिखाया। इस आख्यान को हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! बात यह थी कि महाराज परी-क्षित् को सात दिन में तक्षक काट लेगा और वे मर जायेंगे, यह बात तीनों लोकों में फैल गयी। मेरे गुरुदेव भगवान् शुक भी आ गये और उन्होंने राजा को धैर्य बँधाते हुए कहा—"राजन ! तुम चिन्ता मत करो, मैं तुम्हें कथामृत पिलाकर अमर ही न बना दूँगा, किन्तु समस्त चिन्ताओं से रहित भी बना दूँगा।"

यह बात देवताओं ने सुनी, तो उन्होंने सोचा—"हमारे यहाँ का स्वर्गीय अमृत इतना ही करता है स्वर्ग में शरीर से मृत्यु नहीं

होती। सशरीर वहाँ से ढकेल दिये जाते हैं इस अमृत को पीकर चिन्तायें तो बनी ही रहती हैं। जन्म-मरण का चक्कर भी नहीं छूटता। शुकदेवजी तो कथामृत पिलाकर चिन्ता रहित और संसारी आवागमन से रहित बनाने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं। राजा परीक्षित् को तो तक्षक का ही भय है क्यों न हम शुकदेवजी को अपना अमृत देकर बदले में कथामृत ले आवें। इस अदला-बदली में हमें लाभ ही होगा।" यही सब सोचकर समस्त स्वार्थी सुरगण सुवर्ण के अमृत कलश को लेकर उस सभा में आये जहाँ ब्राह्मणों के सहित महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेव से कथा श्रवण करने को बैठे थे। दिव्य कनक कुण्डल और किरीट मुकुट पहिने अधर में विराजमान उन देवताओं को देखकर भगवान् शुक ने पूछा—"भाई! तुम कौन हो? देवताओं ने कहा—"भगवन्! हम स्वर्ग में रहने वाले देवगण हैं।"

शुकदेवजी ने पूछा—"इस चमचमाते सुवर्ण कलश में यह क्या लिये हुए हो? गंगा जल है या पंचामृत?"

देवताओं ने कहा—"महाराज! न तो इसमें गंगा जल है, न पंचामृत। इसमें तो क्षीर सागर के मथने से जो अमृत निकला था, वही अजर-अमर बना देने वाला अमृत है।"

शुकदेवजी ने पूछा—"तो क्यों तुम इसलिये घूम रहे हो, कोई दूसरा गरुड़ तो इसे चुराने की ताड़ में नहीं है?"

देवताओं ने कहा—"नहीं, महाराज! चुराने का तो अब कोई भय नहीं है। हम तो इसे लेकर आपके पास आये हैं आप से कुछ कहना चाहते हैं।"

शुकदेवजी ने कहा—"कहो, क्या कहना चाहते हो?" यह सुनकर देवताओं ने फिर से श्रीशुकदेवजी को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर बोले—"महाराज! आप इस अमृत को महाराज परीक्षित् को पिला दें।"

शुकदेवजी ने आश्चर्य के साथ कहा—"देवताओ! आज तो बड़े उदार बन गये हो क्या बात है अपना अभिप्राय बताओ। तुम बिना स्वार्थ के तो इतनी उदारता कर नहीं सकते। अपना यथार्थ अभिप्राय प्रकट करो।"

देवताओं ने कहा—"नहीं महाराज! स्वार्थ पवार्थ कुछ नहीं सोचा हमने यह था कि राजा को तो अपने शरीर को बचाना है तक्षक के काटने से जो अवश्यम्भावी मृत्यु है उससे अपने को सुरक्षित रखना है। आप इन्हें कथामृत पान कराना चाहते हैं तो हमारा कथन इतना ही है, कि राजा हमारे इस दिव्य अमृत का पान करके अमर हो जायँ और इसके बदले में आप हमें श्रीमद्भागवती कथा का अमृत पान करा दें।"

देवताओं की बात सुनकर भगवान् शुक खिलखिलाकर हँस पड़े और हँसते-हँसते बोले—"यही तो मैं सोच रहा था कि देवताओं के हृदय में कैसे ऐसी दानशीलता उमड़ पड़ी। अरे बुद्धि के शत्रुओं! बदला या तो बराबरी की वस्तुओं में होता है या कुछ न्यून अधिक में। तुम सोचो कि एक सरसों देकर सुमेरु को ले लें। बकरी को देकर कामधेनु को ले लें तो यह अदला-बदली नहीं सर्वथा ठगविद्या हुई। आप ही सोचो-कहाँ तो एक काँच का छोटा-सा टुकड़ा और कहाँ मूल्यवान् मणियों की मनोहर माला। कहाँ पत्थर का टुकड़ा और कहाँ पारस पत्थर, कहाँ आक का क्षीर और कहाँ कामधेनु का सर्वस्वाद युक्त मधुर दूध, कहाँ स्वर्ग का तुच्छ अमृत और कहाँ जीवन मरण को मेटकर मधुराति मधुर रस को देने वाली हरिकथा। तुम लोग अच्छा हमें ठगना चाहते हो ?"

देवताओं ने कहा—"नहीं, महाराज! ठगने की कौन-सी बात है। सोचते थे हम भी भागवत कथा का पान कर लेते।"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"कर तो लेते किन्तु तुम्हारे भाग्य में

हो तब न ? तुम तो अपने स्वर्ग सुख को सुरक्षित रखने के लिए अपने स्वार्थ साधने के लिये नीच से नीच काम करने को कटिबद्ध रहते हो। भक्ति से तो तुम कोसों दूर रहते हो ऐसे भक्तिहीन कथा से क्या लाभ उठावेंगे। भाग जाओ यहाँ से।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! यह भागवती कथा साधारण नहीं है। यह देवताओं के लिये भी दुर्लभ है। यह सर्वसाधनों का सारातिसार है। श्रद्धापूर्वक इसके श्रवण मात्र से ही मुक्ति करतल गत हो जाती है। लोग इसके ऐसे माहात्म्य को सुनकर आश्चर्य करेंगे किन्तु अब तो आश्चर्य की कोई बात रह हा नहीं गयी, ब्रह्माजी ने सब नाप तोलकर अपना यथार्थ निर्णय दे दिया है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ब्रह्माजी ने नाप तोलकर निर्णय कैसे दिया, इस कथा को कृपा करके आप हमें और सुना दीजिये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! सुनिये। श्रीशुक के मुख से भागवती कथा सुनकर महाराज परीक्षित् की मोक्ष हो गयी। इसे देखकर ब्रह्माजी को बड़ा विस्मय हुआ। कहाँ तो अनेक जन्मों में साधन करते-करते ब्राह्मण शरीर मिलता है। उसमें भी विधिवत् चारों आश्रमों का पालन करे सर्व कर्मों का संन्यास करे। मेरे लोक को प्राप्त करे और कल्पान्त में मुक्ति मिले। कहाँ क्षत्रिय राजा—जो ब्राह्मण शाप से शापित भी था, केवल सात दिन में ही भागवती कथा सुनकर मुक्त हो गया। अवश्य ही इस कथा में कोई विलक्षण चमत्कार है। इस साधना में इतनी गुरुता क्यों है, कोई इसके बराबर का और साधन है या नहीं इसे तोलना चाहिये।" यही सोचकर ब्रह्मलोक में उन्होंने एक बड़ी भारी तखरी बनायी। एक पलड़े में तो उन्होंने श्रीमद्भागवत श्रवण रूपी साधन रखा और दूसरे में तीर्थ भ्रमण

रूपी साधन रखा। कथा श्रवण वाला पलड़ा उठा ही नहीं। फिर उन्होंने तप से तोला फिर भी पलड़ा नहीं उठा। अन्त में उन्होंने समस्त साधन एक पलड़े में रख दिये और दूसरे में अकेला हरि-कथा श्रवण रूपी साधन रखा। फिर भी पलड़ा उठा नहीं। सब मिलकर भी साधन हलके पड़े। यह देखकर वहाँ जितने देवर्षि महर्षि तथा ब्रह्मर्षि एकत्रित थे सभी परम विस्मित हुए और सब-ने मिलकर एक स्वर से निर्णय दे दिया कि श्रीमद्भागवत शास्त्र रूप साधन सर्वश्रेष्ठ है। श्रीमद्भागवत भगवान् का ही रूप है। कलियुग में इसके श्रद्धा सहित पठन तथा श्रवण से तत्काल वैकुण्ठ की प्राप्ति हो जाती है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! किस क्रम से इसका पठन और श्रवण करना चाहिये?"

सूतजी बोले—"महाराज! श्रीमद्भागवत का तो जब भी पाठ करे तभी उत्तम है, श्रीमद्भागवत में तो दिन आदि का कोई नियम बताया नहीं है, किन्तु नीति शास्त्रकारों ने महाभारत, रामायण और श्रीमद्भागवत इन तीनों शास्त्रों को नित्य पढ़ने का नियम बताया है। वे कहते हैं प्रातः द्यूत चरित अर्थात् महा-भारत पढ़े, मध्याह्न में स्त्री चरित्र अर्थात् रामायण पढ़े और रात्रि में चोर चरित्र अर्थात् भागवत पढ़े। श्रीमद्भागवत में तो संक्षेप में भागवत माहात्म्य ही है। पद्म पुराण, स्कन्दपुराण तथा अन्य पुराणों में श्रीमद्भागवत के माहात्म्य विस्तार से वर्णित हैं, पद्म-पुराण में तो भागवत सप्ताह का माहात्म्य विशेष रूप से वर्णन किया गया है, स्कन्दपुराण में मासिक और पाक्षिक की प्रशंसा है। आप जिसे कहें उसी को सुनाऊँ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! श्रीमद्भागवत के सप्ताह की प्रथा कब चली, कैसे चली, किसके द्वारा चली। कृपया पहिले हमें आप सप्ताह का ही माहात्म्य सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! इस श्रीमद्भागवत् को सर्वप्रथम श्री नारदजी ने ही अपने सनकादि बड़े भाइयों से सप्ताह विधि से सुना। तभी से संसार में भागवत सप्ताह का प्रचार हुआ।"

यह सुनकर अत्यन्त आश्चर्य के साथ शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आप तो एक-से-एक विचित्र बात सुनाते हैं। महाभाग! परमहंसचक्रचूड़ामणि अवधूत दिगम्बर भगवान् शुक ने सात दिन एक स्थान में रहकर करुणा वश महाराज परीक्षित् को कथा सुनायी यह आश्चर्य की बात तो हमने आपके मुख से पहिले सुनी, किन्तु आप इससे भी आश्चर्य की बात यह कह रहे हैं कि नारदजी ने सप्ताह विधि से एक स्थान में रहकर अनुष्ठान पूर्वक भागवत को सुना उन्होंने तो पहिले ही ब्रह्माजी के मुख से श्रीमद्भागवत को सुना था। फिर वे तो सांसारिक झंझटों से विधि विधान से सर्वथा दूर रहते हैं, कभी एक स्थान पर टिकते भी नहीं। उनकी सप्ताह विधि में कैसे प्रवृत्ति हुई? उन्होंने एक स्थान पर रहकर इसे क्यों और कैसे सुना, कृपा कर हमारे इन प्रश्नों का उत्तर दीजिये।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! यह सत्य है उन्होंने पूर्व में ब्रह्माजी से श्रीमद्भागवत सुनी थी, किन्तु सप्ताह विधि से सनकादि मुनियों से कैसे सुनी इस प्रसंग को मैं कहता हूँ, आप सावधान होकर सुनें।"

छप्पय

प्रभु प्रसाद यह चरित सन्त भक्तनि कूँ भावै।
करि कराल विष-व्याल भागवत सुनि नसि जावै॥
सुधा अमृत रस सकल सरिस जाके कछु नाहीं।
जनम करम जगबन्ध सपदि सुनिके कटि जाहीं॥
देवनि शुकक्ूँ सुधा घट, दै बदले चाह्यो चरित।
सुरनि अनधिकारी समुझि, दयो न, है यह जग विदित॥

श्री नारदजी की भक्ति से भेंट

[३]

तप्यन्ते लोकतापेन प्रायशः साधवो जनाः ।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥*

(श्रीभा० ८ स्क० ७ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

जग में सबई सुलभ खलनिकूँ धन मिलि जावै ।
पुण्य करत नर ब्रह्मलोक तक हू चलि जावै ॥
किन्तु भागवत चरित होहि रति दुरलभ अति है ।
धन्य धन्य ते मनुज कृष्ण चरननि जिनि मति है ॥
धरम तुला अजने करी, एक ओर साधन सबहिँ ।
एक ओर भगवत-चरित, भयो गरू पलड़ा इतहिँ ॥

संसार में अपने तथा अपने परिवार के दुःख से दुखी तो सभी होते हैं, किन्तु महापुरुष वे ही होते हैं, जो सर्व साधारण को दुखी देखकर दुखी हों। दूसरों के दुःखों को अपने दुःख के समान समझें और उसे मिटाने के लिये व्यग्र बने रहें। जो परोपकार को परोपकार भावना से करते हैं, उनको अभिमान भी हो जाता है, किन्तु जो परोपकार को अपना निजी ही काम

---

* श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! प्रायः साधुजन लोगों के तापों को देखकर सतप्त होते हैं। यही तो उन अखिलात्मा परम पुरुष की सबसे बड़ी परम आराधना है।"

समझें। यह न सोचें कि हम दूसरों पर दया करके दूसरों के लिये कर रहे हैं वास्तव में वे ही यथार्थ परोपकारी हैं, उन्हीं के उपकार के कारण यह संसार टिका रहता है, उन्हीं के पुण्य प्रताप से प्राणी अनादि काल से शान्ति लाभ करते आ रहे हैं और अनन्तकाल तक करते रहेंगे। भगवान् नारद ऐसे ही परोपकारी हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे पूछा है, कि सांसारिक प्रपञ्चों से परे रहने वाले, नारद मुनि की विधिपूर्वक नियम से एक स्थान में रहकर भागवत सप्ताह—श्रवण करने की प्रीति कैसे हुई।" इसका मैं उत्तर देता हूँ। इस विषय का एक बड़ा ही मनोरंजक भक्तिवर्धक इतिहास है। बड़ी ही रहस्यमयी कहानी है। वह सब किसी को नहीं बतायी जाती। प्रायः तत्व-वेत्ता मुनि ऐसी कथाओं को सहसा कहते नहीं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इतनी रहस्यमयी कथा आपने कैसे सुनी? किससे सुनी?"

सूतजी बोले—"महाराज! मेरे ऊपर तो मेरे गुरुदेव भगवान् शुक की कृपा हो गयी। उन्होंने मुझे अपना अनन्य ऐकान्तिक भक्त शिष्य समझकर इस कथा को सुनाया था। तिस पर भी ऐसे एकान्त में सुनाया था, जहाँ दूसरा कोई था ही नहीं।"

शौनकजी ने कहा—"तो सूतजी! आप यदि हमें अधिकारी समझते हों, तो इस कथा को हमको भी अवश्य ही सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! आपके अतिरिक्त और कौन इसका अन्य अधिकारी होगा, मैं आप सबको इस परम पुण्य-मयी पौराणिकी गाथा को सुनाता हूँ।"

एक बार की बात है, कि ब्रह्माजी के मानस पुत्र श्री सनक, सनंदन, सनत्कुमार और सनातन ये चारों ही सत्संग के निमित्त घूमते घामते गंधमादन पर्वत पर स्थित श्रीबदरिकाश्रम में गये।

एकान्त के विचार से ये अलकनंदा के तट पर बैठकर कुछ सत्संग कर रहे थे, कि उन्होंने सामने से आते हुए नारद मुनि को देखा। सनकादि मुनीश्वर देखकर अवाक् रह गये। आज नारदजी की विचित्र दशा थी। उनकी चोटी खुली हुई थी, बदरीनाथ की ठंड में भी उनके मुख पर स्वेदबिन्दु झलक रहे थे। आज न वे वीणा बजा रहे थे और न राम कृष्ण हरि की मधुर तान छेड़कर भगवान् के त्रैलोक्य पावन सुमधुर नामों का कीर्तन ही कर रहे थे। उनके ओंठ सूखे हुए थे मुख म्लान था, हृदय को चिन्तामुख मंडल पर स्पष्ट झलक रही थी। वे सपाटे के साथ स्वर्गारोहण की ओर दौड़े जा रहे थे। सनकादि मुनीश्वर यद्यपि सम्मुख ही बैठे थे, किन्तु इन्होंने उन्हें देखा नहीं। चिन्ता में निमग्न वे आगे ही चले जाते थे, तब कुमारों ने पुकारा—"नारदजी ! कहो कहाँ चले ?"

अब नारदजी को चेत हुआ, पीछे फिरकर देखा तो उन्हें अपने चारों बड़े भाई दिखायी दिये, वे शीघ्रता से लौट पड़े। आकर उन्होंने भूमि में लोटकर चारों मुनियों को साष्टांग प्रणाम किया। मुनियों ने एक सुन्दर-सा चिकना पाषाण उन्हें बैठने को बताया। नारद जी जब अपने आसन पर सुखपूर्वक बैठ गये तब कुमारों ने पूछा—"नारदजी ! कहो कहाँ इतनी शीघ्रता से जा रहे हो ?"

खिन्न मन से उदासीनता के साथ नारदजी ने कहा—"कहीं नहीं महाराज ! ऐसे ही घूमता घामता चला आया।"

कुमारों ने पूछा—"नारदजी ! क्या बात है, आज तो आपकी विचित्र दशा है, हमने आपको ऐसी दशा में तो इससे पहिले कभी देखा नहीं था। प्रतीत होता है, आप किसी गहरी मानसिक पीड़ा से पीड़ित हैं। आपका मनोहर मुख मंडल मलिन हो रहा है, न आप आज वीणा ही बजा रहे हैं, न कीर्तन ही कर रहे हैं, पहिले

आप सदा मत्त गयंद की चाल से आनंद में विभोर होकर झूमते हुए चलते थे, आज तो आप दौड़ लगा रहे थे। इस समय आप आ कहाँ से रहे हैं और कहाँ जाने की इच्छा है ? आपकी आकृति तो उस व्यापारी की-सी हो रही है, जिसका सर्वस्व तस्करों ने लूट लिया हो और वह सर्वस्व गँवाया वणिक् खिन्न मन से कहीं दौड़ा जा रहा हो। आप तो ब्रह्मज्ञानी हैं, परम विरक्त हैं, माया मोह से रहित हैं। आपके लिये ऐसी चिन्ता शोभा नहीं देती। अच्छा, हमें अपनी चिन्ता का कारण तो बताओ, यदि हमारे योग्य कोई कार्य होगा तो हम आपकी सहायता भी करेंगे।"

नारदजी ने नम्रता के साथ कहा—"भगवन् ! आप मेरे बड़े भाई हैं, ब्रह्मज्ञानी हैं, आपसे भी अपनी चिंता न कहूँगा तो और किससे कहूँगा। आपने जो-जो पूछा है, मैं बताता हूँ, इस समय मैं मर्त्यलोक से आ रहा हूँ।"

कुमारों ने कहा—"आप तो सदा चौदहों भुवनों में घूमते ही रहते हैं। मर्त्यलोक भी गये होंगे, किन्तु वहाँ किसी विशेष उद्देश्य से गये थे या वैसे ही घूमते घामते चले गये।"

नारदजी ने कहा—"प्रभो ! वैसे तो मैं जाता आता ही रहता हूँ, किन्तु अब के मैं श्वेतद्वीप, वैकुंठ, कैलाश तथा मह, जन और तपादि लोकों में बहुत दिनों तक घूमता रहा। इन दिव्य लोकों में घूमते-घूमते मेरे मन में इच्छा हुई, ये सब लोक तो भोग लोक हैं, इनमें कोई आगे के लिये कर्म तो करते नहीं। भोग भोगते रहते हैं। एकमात्र भूलोक ही ऐसा लोक है, जो कर्मलोक है। यहीं से कर्म करके प्राणी स्वर्ग, नरक तथा अन्यान्य लोकों में जाते हैं। पृथ्वी पर बड़े-बड़े पुण्यप्रद पवित्र तीर्थ हैं। साढ़े तीन करोड़ तीर्थ पृथ्वी पर विद्यमान् हैं। एक-से-एक बढ़कर पुण्य देने वाले हैं। चलो वहाँ चलकर साधु सन्तों से सत्संग करेंगे; तीर्थों में

भ्रमण करेंगे। यही सोचकर मैं ऊपर के लोकों से चल दिया।"

कुमारों ने पूछा—"तो, फिर आप कहाँ-कहाँ गये ? किन-किन पुण्य तीर्थों की यात्रा की ?"

नारदजी ने कहा—"भगवन् ! सबसे पहिले तो मैं सब तीर्थों का जो गुरु है पुष्करराज वहाँ गया। जहाँ से हमारे पिताजी ने सृष्टि आरम्भ की। पुष्कर तीर्थ में स्नान करके फिर मैं समस्त तीर्थों के राजा प्रयागराज में आया, जहाँ गंगा यमुना आकर मिलती हैं, जहाँ पर कभी भी क्षय न होने वाला अक्षयवट है। फिर समस्त क्षेत्रों में जो सर्वोत्तम क्षेत्र माना जाता है, जहाँ मरने मात्र से ही मुक्ति हो जाती है, उस वाराणसी क्षेत्र काशी पुरी में गया। फिर कलियुग में समस्त पापों को हरने वाली गोदावरी गंगा में स्नान करने के निमित्त दौड़ा गया। फिर मायापुरी हरिद्वार मे गया, कहाँ तक गिनाऊँ हरिहर क्षेत्र, कुरुक्षेत्र, श्रीरंगम् तीर्थ, रामेश्वरजी, द्वारकाजी तथा और भी जितने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पापहारी पुण्यपद क्षेत्र हैं सभी मे गया, किन्तु मै आपके सम्मुख सत्य-सत्य निवेदन कर रहा हूँ, इतने पुण्यप्रद तीर्थों में से कहीं भी मुझे शान्ति नहीं मिली।"

कुमारों ने पूछा—"आपको शान्ति क्यों नहीं मिली ? अशान्ति का क्या कारण था।"

नारदजी ने कहा—' महाराज ! मैंने देखा पृथ्वी पर सर्वत्र कलि काल का साम्राज्य है। कलियुग का मित्र है अधर्म। उसी का सर्वत्र बोल बाला है। धर्म की तो कोई चर्चा ही नहीं। कहीं भी चले जाओ सर्वत्र असत्य का व्यवहार मिलेगा। पहिले लोग प्राणों का पण लगाकर सत्य का पालन करते थे, अब सत्य की कोई बात ही नहीं रह गयी। कानी कौडी के लिये सैकड़ों झूठ बुलवा लीजिये। तप तो तपस्या करने तप लोक में चले गये। जो अपने को तपस्वी प्रसिद्ध करते हैं, उनके ऐसे ठाठ हैं, कि क्या

किन्हीं भोगियों के होंगे। तप एक जीविका का साधन बन गया है। पवित्रता तो रही ही नहीं। सभी वर्ण सभी जाति वाले एक हो गये। चाहें जहाँ, चाहे जिसके साथ चाहें, जिसके हाथ का खा लेते हैं। बाहरी भीतरी कोई भी पवित्रता नहीं रही। दया का तो लेश नहीं रहा। लोग सम्मुख भूख से तड़पते लोगों को देखते हैं अपने घर में अन्न है, यह नहीं कि मुट्ठीभर अन्न दे दें, कह देते हैं—'यह काम तो शासकों का है, हम अपना अन्न क्यों दें।' मनुष्य बड़े निर्दयी बन गये हैं, तनिक-सी बात के लिये सगे सम्बन्धियों का वध कर डालते हैं। दान का तो नाम ही नहीं रह गया है। अब तो कहते हैं दा—"न, दा – न अर्थात् दा शब्द का नाम भी मत लो। 'लाला का नाम लो। अब तो हा पेट इसी की चारों ओर पुकार मच रही है। हमारा पेट भर जाय, दूसरा भले ही मर जाय। कलियुगी प्राणियों का पेट है या कुठिला है जो भरता ही नहीं। सबको केवल पेट की ही चिन्ता लगी है। व्यवहार कपटमय बन गया है, बात-बात में छल कपट। एक देंगे चार लिखावेंगे, रुपयों को शासकों से छिपावेंगे, कुछ का कुछ बतावेंगे। स्वयं कपट करेंगे अपने सगे सम्बन्धियों से करावेंगे। धूर्त दुष्ट तथा अधर्मियों को उत्कोच (घूँस) खिलावेंगे। सारांश यह कि कोई भी ऐसा व्यवहार न करेंगे जो कपट से रहित हो।

कलियुग में आलस्य का बड़ा प्राबल्य हो गया है लोग अरुणोदय में उठने की कौन कहें एक प्रहर दिन चढ़े तक शैयापर पड़े रहते हैं। शैया पर पड़े ही पड़े बिना शौच से निवृत्त हुए पेय पदार्थ पी लेते हैं, अखाद्य खा लेते हैं, तब आलस्य में झूमते हुए, मुख से धूम्रपान का धूम्र छोड़ते हुए उठते हैं। उनका सब समय खाने, पीने, सोने और विषय वार्ता तथा पेट की ही चिन्ता में बीतता है। निद्रा आलस्य और प्रमाद ये उन्हें घेरे रहते हैं। कलि के प्रभाव से उनकी बुद्धि पर आवरण छा गया है, उनकी बुद्धि

मन्द हो गई है, स्मरण शक्ति नष्ट हो गयी है, जब तक बात को लिख न लें तब तक उन्हें याद ही नहीं रहती। सब श्रीहीन अभागे हो गये हैं न घरों में धनरत्न हैं न पहिले जैसे वाहन। स्त्री पुरुष आभूषणों से रहित श्रीहीन कांतिहीन मृतक सदृश दिखाई देते हैं। घर-घर में रोगों ने अड्डा जमा लिया है। कोई ऐसा दिखाई नहीं दिया जो आधि-व्याधियों से व्याप्त न हो। सर्वत्र पाखण्ड की प्रचुरता है, बात-बात मे पाखंड, बात-बात में दम्भ कलियुगी जीवों की दशा देखकर दया भी द्रवित हुए बिना नहीं रह सकती।

महाराज! और को तो बात छोड़ दीजिये, जिन्होंने विरक्तों का वेप बना रखा है, उनको भी रात्रि-दिन धन की ही चिंता बनी रहती है। वे भी कोई जंत्र-मंत्र देते हैं, कोई औषधि बेचते हैं, कोई ज्ञान की बिक्री करते हैं कोई पुस्तकों का व्यापार करते हैं, लाखों रुपये कमाते हैं, कहने को विरक्त किन्तु धन मे तथा स्त्रियों में सदा अनुरक्त बने रहते हैं। चेलों की अपेक्षा चेलियों की चिंता उन्हें अधिक होती है, क्योंकि धन वे ही लाकर देती हैं, या दिलाती हैं। विरक्तों के जो ठाट-बाट हैं वे गृहस्थों के नहीं। क्योंकि उनकी एकमात्र यही साधना रहती है कैसे बड़े घर की स्त्रियों को शिष्य बनाया जाय।

गृहस्थियों के घर में स्त्रियों का ही साम्राज्य हो गया है। श्रीमतीजी के श्रीमुख से जो निकल गया उसे हमारे पिता ब्रह्माजी भी अन्यथा नहीं कर सकते। पुरुप स्त्रियों के अधीन हो गये हैं। वे अपने पिता, चाचा, ताऊ तथा बड़े भाई आदि से सम्मति नहीं लेते। जो पूछना हो श्रीमती जी के भाई जी से पूछा जाता है वे ही घर के मुख्य सम्मति दाता समझे जाते हैं उनकी छोटी बहिनें अर्थात् श्रीमती जी की भगिनियों की ही घर में उत्सवपर्वों पर प्रधानता होती है। यह तो सम्पन्न परिवारों की दशा है। किन्तु

जो साधारण हैं, उनके यहाँ लड़कियों का व्यापार होता है, घर में एक लड़की हो गयी, उसी के नाम पर ऋण लेने लगते हैं, बूढ़ों के हाथों लोभवश उन्हें बेच देते हैं। वर-वधु प्रायः विपरीत स्वभाव के स्वार्थी होते हैं। पति-पत्नी में विशुद्ध प्रेम रह नहीं गया है, इसीलिये घरों में नित्य कलह होती है। गार्हस्थ जीवन रौरव नरक से भी अधिक वीभत्स बन गया है।

गृहस्थियों की बात तो पृथक रही। महात्माओं के आश्रमों में नित्य यही अभियोग और लड़ाई की चर्चा होती है। यवनों का आश्रमों पर आधिपत्य हो गया है, पुण्य क्षेत्रों में उन्हीं की प्राधान्यता है, वे आर्य वैदिक सनातन धर्म से द्वेष रखते हैं। मठ, मंदिर तीर्थ स्थानों को उन्होंने अपने अधिकार में कर लिया है। दुष्टों ने देवालयों को नष्ट भ्रष्ट करके उन्हें अपवित्र और दूषित्त बना दिया है।"

कुमारों ने कहा—"नारदजी! आप तो बड़ी विचित्र बात कह रहे हैं, पृथ्वी पर कलिकाल ने इतना अधिकार कर लिया। क्या सभी लोग सत्य, सदाचार, शौच, दया, धर्म तथा सद्‌गुणों से रहित बन गये। अजी, कुछ तो भगवत्‌भक्त, सिद्ध तथा योगी तपस्वी होंगे ही?"

खिन्नता के साथ नारदजी ने कहा—"अजी, महाराज! क्या पूछते हो? कलिकाल रूपी दावानल से सभी साधन जलकर भस्म हो गये। अब वहाँ न कोई योगी है न सिद्ध ज्ञानी है न वैदिक कर्मकाण्ड को करने वाले। अब तो भगवन्! सब दम्भ है, छल है, कपट है, पाखण्ड है, दिखावा है और है ठगी का व्यवहार। महाराज! पहिले युगों में तीन बातें अत्यन्त ही निन्द्य मानी जाती थीं।"

कुमारों ने पूछा—"कौन-सी तीन बातें अत्यन्त निन्द्य मानी जाती थीं।"

नारदजी ने कहा—"महाराज ! एक तो अन्न बेचना। सूखा अन्न बेचना इतना बुरा नहीं माना जाता था। किन्तु पक्का अन्न बेचना महापाप माना जाता था। जो लोग मिठाई भी बेचते थे उनके हाथ का छुआ कोई नहीं खाता था। वे बेचने के लिये अन्य लोग रखते थे। अब कलियुग में तो स्थान-स्थान पर भोजनालय खुल गये हैं, गिनकर रोटी बेची जाती हैं, यहाँ तक कि अपने घर में अतिथि आता है, उससे भोजन का मूल्य ले लेते हैं। अब पके अन्न को बेचना एक साधारण-सी बात हो गई है। आश्रमों में भी पका अन्न बेचा जाता है। यह इतने आने का भोजन है यह इतने का।

दूसरी अत्यन्त निषेध बात थी वेद विक्रय। वेतन लेकर पढ़ाना बड़ा निषिद्ध समझा जाता था, किन्तु अब तो सभी अध्यापक वेतन लेकर ही पढ़ाते हैं, यहाँ तक कि अपने को त्यागी विरक्त कहने वाले भी पुस्तकें लिखकर बेचते हैं, यह भी वैतनिक अध्यापकों के समान है। तीसरे वेश्यावृत्ति अत्यन्त निन्द्य मानी जाती थी, सो महाराज ! कलियुग में तो प्रायः घर-घर में यह फैल गयी। राज्य की ओर से भी कोई मनाही नहीं। कहने का सारांश इतना ही है, कि कलियुगी लोग तमोगुण से आवृत हो गये, वे अधर्म को ही धर्म मानने लगे। लोग अपनी युवती लड़कियों को समाज में नचाने में अपना गौरव समझने लगे। विवाह विच्छेद, गर्भनिरोध ये सब उन्नति के चिन्ह समझे जाने लगे।"

देश में दरिद्रता के चिन्ह सर्वत्र दिखायी देने लगे हैं कहाँ पहिले हाट बाटों में सर्वत्र अन्न भरा रहता था, कहाँ अब अन्न के दर्शन नहीं होते, पहिले सभी ब्राह्मण वेद पढ़ते थे, अधिक नहीं तो अपनी शाखा का तो अध्ययन करते ही थे, अब वे ही वेदों के शत्रु बन गये हैं। पहिले स्त्रियाँ केश बढ़ाकर उनमें

वेणी बाँधना परम सौभाग्य का चिन्ह मानती थीं। अब वे केश कटाने में ही बड़प्पन समझती हैं। कहाँ तक कहें भगवन्! सभी बातें विपरीत हो गयी हैं। तीर्थों में पाखण्ड बढ़ गया है। कहीं यथार्थ नहीं। जहाँ देखो वहीं बनावट। इस प्रकार मैं पूर्व से पश्चिम तक उत्तर से दक्षिण तक सर्वत्र घूमा, मुझे सर्वत्र धर्म के विपरीत ही लक्षण दिखायी दिये। इस प्रकार घूमता घामता मैं आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र की क्रीड़ा भूमि व्रज में आया। यमुना के पावन पुलिनों में जहाँ रासेश्वर राधिकारमण ने व्रजाङ्गनाओं के साथ अत्यन्त सुखमयी रासक्रीड़ा की थी, उस वृन्दावन में गया, वहाँ मैंने एक अत्यन्त आश्चर्य जनक दृश्य देखा।"

कुमारों ने पूछा—"क्या आश्चर्यजनक दृश्य देखा, नारदजी! हमें भी तो उसे सुनाइये।"

नारदजी ने कहा—"क्या सुनाऊँ, महाराज! कुछ सुनाने योग्य हो तो सुनाऊँ। ऐसा दृश्य तो मैंने कभी नहीं देखा। मैंने देखा यमुनाजी के किनारे एक सघन निकुंज की छाया में बड़ी ही सुन्दरी युवती बैठी है। उसका चित्त अत्यन्त खिन्न हो रहा था, उसके सौंदर्य से दशों दिशायें आलोकित हो रही थीं, किन्तु वह बैठी-बैठी अश्रु बहा रही थी, उसके कमल के सदृश बड़े-बड़े कमनीय नयनों से निरन्तर अश्रु ऐसे ही बह रहे थे मानों पूर्णचन्द्र से अमृत के बने मोती झर रहे हों। उसके समीप ही दो वृद्ध पुरुष अचेतन हुए पड़े थे, वे लम्बी-लम्बी साँस ले रहे थे ऐसा लग रहा था, मानों अब ही ये मरने वाले हैं। वह सुन्दरी युवती उन्हें बारम्बार जगा रही थी, उनकी सेवा सुश्रूषा कर रही थी। पंखा झलकर सुगन्धित जल छिड़ककर उन्हें जगाना चाहती थी, जब वे नहीं जागते, ज्यों-के-त्यों मूर्छित ही बने रहते तब वह बड़े वेग से ढाह मारकर रोने लगती और दशों दिशाओं में अपने किसी सहायक की खोज करने लगती। देखने में वह

कोई बड़ी प्रभावशालिनी कुलवती सम्पन्न परिवार की जान पड़ती थी, सहस्रों दासियाँ उसकी सेवा में संलग्न थीं. कोई पंखा

कर रही थी, कोई सुगन्धित द्रव्यों को ला रही थी, बहुत-सी उसे धैर्य बँधा रही थीं, मीठी-मीठी बातें करके समझा रही थीं, किन्तु उसकी वेदना तीव्र थी, वह अत्यन्त व्याकुल हो रही थी, उसकी ऐसी दशा देखकर मुझे बड़ी दया आई। मुझसे अब अधिक न देखा गया और मैं अपने कुतूहल को शांत करने के निमित्त उसके समीप चला गया। महाराज! एकान्त में इस प्रकार स्त्रियों के बीच में जाना हम जैसे लोगों को उचित तो नहीं फिर भी यह सोचकर कि यदि मेरी सेवा से इसका कुछ दुःख दूर हो सके मेरा शरीर इसके कोई काम आ सके तो अति उत्तम है। मैं उसके समीप गया। मुझे देखते ही वह कुलीन नारी खड़ी हो गयी। मैं कुछ निर्णय न कर सका, कि अब क्या करूँ, कैसे बातें

करूँ, मैं वहाँ से चलने का उपक्रम करने लगा। वह मुझे जाता हुआ देखकर अत्यन्त ही करुण स्वर में कहने लगी—"महात्मा-जी! तनिक ठहर जाइये। मुझे आपसे कुछ निवेदन करना है। मैं बड़ी चिन्तित हूँ, साधु पुरुष तो दीनवत्सल होते हैं सन्तों के दर्शनों से सभी ताप सन्ताप मिट जाते हैं, उनके दर्शन समस्त अघों के नाशने में समर्थ होते हैं। आप भी मेरी चिन्ता को मेटिये। मेरी भी कुछ सहायता कीजिये।"

मैंने कहा—"देवि! मैं क्या सहायता कर सकता हूँ, मैं तो विरक्त साधु हूँ, सहायता करने को मेरे पास तो कुछ है नहीं, केवल मौखिक सहानुभूति ही प्रकट कर सकता हूँ।"

यह सुनकर वह बाला बोली—"हे सन्त शिरोमणि! आपके सहानुभूति पूर्ण वचनों से ही मेरे दुःख की बहुत कुछ शान्ति हो जायगी। वचनों की बात तो पृथक् रही, आपके दर्शनों से ही सब कुछ हो सकता है, साधुओं के तो दर्शन ही परम श्रेयस्कर हैं। आप जैसे सन्तों का दर्शन अत्यन्त भाग्यशाली पुण्यात्माओं को ही हो सकता है। जिन्होंने पूर्वजन्मों में बहुत पुण्य किये हैं, उन्हें ही साधुओं के दर्शन होते हैं। दर्शन हो जाने पर पाप नष्ट होकर इस जन्म में सुख होता है और अगले जन्मों के लिये सुकृत संचय होता है, इस प्रकार संत दर्शन तीन जन्मों के पुण्यों का कारण है।"

मैंने कहा—"देवि! आप जैसा समझ रही है, वैसा संत तो मैं हूँ नहीं। फिर भी आप मुझे अपना परिचय दें। मुझसे जो भी कुछ बन सकेगा आपकी सहायता करूँगा, आपके दुःख को दूर करने का प्रयत्न करूँगा। पहिले तो आप अपना परिचय दीजिये, फिर यह बताइये कि ये जो अत्यन्त बूढ़े मरणासन्न व्यक्ति आपके सम्मुख पड़े हैं ये कौन हैं। ये आपके मातृ-वंश के कोई मामा नाना या बड़नाना हैं, या पितृवंश के पिता-

पितामह प्रतिमामह हैं, अथवा पतिवंश के ससुर ददियाससुर आदि हैं।"

नारदजी सनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनिवर! मेरे इस प्रश्न को सुनकर वह बाला अत्यधिक लज्जित हुई और लज्जा के कारण मुख को ढककर शनैः-शनैः कहने लगी—"साधुवर! न ये मेरे मातृवंश के मामा नाना हैं, न पितृवंश के पिता, पितामह और प्रपितामह हैं, ये मेरे ससुर ददियाससुर भी नहीं हैं। ये दोनों मेरे पुत्र हैं।"

नारदजी कह रहे हैं—"मुनियो! मैं तो यह सुनकर अवाक् रह गया, उस युवती की अवस्था तो अधिक से अधिक १५, १६, वर्ष की प्रतीत होती थी और वे बूढ़े अवश्य ही १००, १५० वर्ष के होंगे। माता युवती और बेटे बूढ़े यह कैसी अद्‌भुत घटना थी। मैंने कहा—"देवि! मैं आपके वचनों से विमूढ़-सा बनता जा रहा हूँ, आप यह बताइये कि यह जो आपकी सेवा में संलग्न हैं ये कौन हैं।"

युवती ने कहा—"ये मेरी सखी सेविका हैं। ये स्वर्गीय ललना हैं। जग को पवित्र करने वाली हैं। इनमें किसी का नाम गंगा है, किसी का यमुना, किसी का सरस्वती, गोदावरी, तुंगभद्रा, कृतमाला, पयस्विनी तथा और भी सबके पवित्र नाम हैं। ये तीर्थ स्वरूपा सरिता हैं। देवताओं द्वारा भी ये पूजित हैं। इतनी देवियों के द्वारा पूजित होने पर भी मुझे सुख नहीं शान्ति नहीं।"

मैंने पूछा—"देवि! आपने अपना नाम तो बताया ही नहीं। आप अपना तो परिचय दीजिये।"

युवती ने कहा—"मुनिवर! मैं अपना परिचय क्या दूँ, मुझे लोग 'भक्ति' के नाम से पुकारते हैं।"

मैंने कहा—"ओ हो! त्रिभुवन को पावन बनाने वाली भक्ति

महारानी आप ही हैं। अहोभाग्य! आज आपके दर्शन हुए। किन्तु आपकी यह दशा कैसे हुई। आप तो आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रजी की परम प्रेयसी थीं। आप इतनी दुखी क्यों हैं, आपके इन पुत्रों की ऐसी दशा क्यों हो गयी। आपके इन पुत्रों का नाम क्या है।"

भक्ति बोली—"मुनिवर! मेरे इन पुत्रों का नाम 'ज्ञान' और 'वैराग्य' है। समय के प्रभाव से ये वृद्ध हो गये और स्थान के प्रभाव से मैं युवती बन गयी।"

मैंने पूछा—"माताजी! काल के प्रभाव से ज्ञान वैराग्य बूढ़े कैसे हुए और स्थान के प्रभाव से आप युवती कैसे बन गयीं। यदि इसमें कोई छिपाने योग्य बात नहीं और आप मुझे बताना उचित समझती हों तो इसके रहस्य को समझा दीजिये।"

भक्ति महारानी ने कहा—"मुनिवर! साधुओं से कोई बात छिपायी नहीं जाती। उन्हें अपनी विपत्ति सुनाने से तो कल्याण ही होता है। मेरी कथा बहुत बड़ी है यदि आप सुनते-सुनते ऊबें नहीं तो मैं अपनी राम कहानी सुनाऊँ?"

मैंने कहा—"देवि! ऊबने की तो कोई बात नहीं मुझे तो आपकी कथा सुनकर परम प्रसन्नता होगी। कृपा करके आप मुझे अपनी कथा अवश्य सुनावें।"

यह सुनकर भक्ति महारानी कहने लगीं—"मुनिवर! आप मेरी सम्पूर्ण कथा सुनिये और सुनकर मुझे धैर्य बँधाइये। यह तो आप जानते ही हैं मैं आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र की नित्य वृन्दावन विहारिणी प्राणप्रिया हूँ। भगवान् जब इहलौकिक लीला को तिरोहित करके दिव्यधाम को पधारने लगे तो एक रूप से तो मुझे साथ ले गये और दूसरे रूप से लोक कल्याणार्थ मुझे यहीं छोड़ गये। प्राणनाथ के वियोग में कृश होते-होते मैंने भी शरीर त्याग दिया। कालान्तर में अब के मेरा जन्म दक्षिण देश

में हुआ। द्रविड़ देश में मैं उत्पन्न हुई। मुझे अपने माता-पिता का स्मरण नहीं है। मैं पृथ्वी पर घूमने लगी। द्रविड़ देश से चलकर मैं कर्णाटक देश में आई। द्रविड़ देशवासियों ने निष्कपट भाव से मुझसे प्रेम तो किया। किन्तु उन्होंने मुझे बढ़ाने के लिये कोई रस नहीं दिया, वहाँ मेरा बाल्यरूप ही रहा। कर्णाटक वासियों ने मुझे बढ़ाया तो अवश्य किन्तु पुत्री भाव से ही पूजा की। कर्णाटक से चलकर मैं महाराष्ट्र देश में आयी। वहाँ मुझे मातृत्व पद प्राप्त हुआ। वहीं मेरे ज्ञान और वैराग्य ये दो पुत्र पैदा हुए। वहाँ के संतों ने मेरा भी आदर किया, और मेरे पुत्रों को भी प्यार किया। वहाँ मेरी अपेक्षा मेरे पुत्रों का ही आदर अधिक रहा। इससे मैं कुछ क्षीण- सी पड़ गयी। मेरे पुत्र तो युवक हो गये मेरे शरीर में कुछ वृद्धावस्था के से लक्षण दिखायी देने लगे। वहाँ से चलकर मैं गुजरात आई। वहाँ मेरी बड़ी दुर्दशा हुई। मेरे पुत्रों का तो वहाँ आदर ही न था। मेरा भी आदर बनावटी ही था। मेरे नाम से दूसरों की पूजा होने लगी। यथार्थ मुझे भुलाकर मेरे बनावटी वेप का आदर करने लगे। भोले-भाले गुजरातियों को पाखंडियों ने फँसा लिया। घोर कलियुग के प्रभाव से पाखंडियों ने मुझे विकृत बना दिया मेरे अंग-भंग कर दिये। मैं भी वहाँ कष्ट और पाखंड के कारण वृद्धा बन गयी और मेरे बच्चे भी बूढ़े हो गये।

मैं चिरकाल तक पाखंडियों द्वारा प्रताड़ित की गयी, घोर कलियुग के प्रभाव से विकृत-सी बन गयी तब मैं अपने बूढ़े पुत्रों को साथ लिये यहाँ वृन्दावन में आ गयी। ब्रज की सरस भूमि में पैर रखते ही मेरी वृद्धावस्था भाग गयी। मुझे अपना दिव्य यथार्थ नित्य किशोरी रूप प्राप्त हो गया। वृन्दावन का प्रभाव ही ऐसा है। यहाँ भगवान् की प्रियतमा कभी वृद्धा नहीं होती वे सदा नित्य किशोरी ही बनी रहती हैं।

मैं भी यहाँ आकर अत्यधिक मनोहर रूपवाली अतिसुंदरी नवयुवती हो गयी हूँ, किन्तु मेरे पुत्र ज्यों-के-त्यों बूढ़े ही बने रहे। यही नहीं यहाँ आकर ये और भी बूढ़े हो गये। पहिले तो ये चल फिर भी लेते थे, किन्तु अब तो ये सर्वथा भूमि पर ही गिर पड़े। न इनसे उठा जाता है न बैठा ही जाता है। मेरा काम है देश देशों में घूमते रहना, अब मैं यहाँ से कहीं अन्य देश में जाना चाहती हूँ, किन्तु इन पुत्रों को ऐसी दशा में छोड़-कर कैसे जाऊँ। कोई क्या कहेगा कि माता थी या राक्षसी जो पुत्रों को ऐसी दशा में छोड़कर चली गयी। अब मुझे बड़ी लज्जा लग रही है, यदि मैं बूढ़ी बनी रहती और ये युवक बन जाते, तब तो बात भी बन जाती। माता को तो पुत्रों के सम्मुख वृद्धा होना न्याय संगत भी है, किन्तु पुत्र बूढ़े हों माता नवयुवती हो, यह शोभा नहीं देता। अब मैं आपसे पूछती हूँ, कि मेरे ये पुत्र युवक क्यों नहीं हुए और मैं क्यों युवती बन गयी ? हम तो तीनों ही साथ-साथ रहते थे, साथ ही घूमते थे, फिर एक को युवावस्था प्राप्त हो और दो बूढ़े के बूढ़े ही बने रहें। आप सर्वज्ञ हैं मेरी इस शंका के दूर कीजिये। मेरे दुःख का एकमात्र कारण यही है। इसी दुःख से दुखी होकर मैं मन-ही-मन भयभीत और दुखी हो रही हूँ।"

भक्ति की बात सुनकर मैंने उससे कहा—"हे पाप रहित माताजी ! मैं तनिक भगवान् का ध्यान कर लूँ, अपने चित्त को स्थिर कर लूँ। तब ज्ञानदृष्टि से-समाधि में आपके दुःख का कारण खोजूँगा। आप निश्चिन्त हो जायँ। समस्त शोक तथा भयों को त्याग दें। भवभयहारी भगवान् आपका मंगल करेंगे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! सनकादि मुनियों से इतना कहकर नारदजी मौन हो गये, अब वे आगे जैसे अपना और

भक्ति का सम्वाद कहेंगे, उस कथा प्रसंग को आगे कहूँगा। आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

है जामें इतिहास पुरातन ताहि सुनाऊँ।
जाई मिस सताह भागवत विधि फल गाऊँ॥
सनकादिक ने लखे दुखित नारद बदरीवन।
मलिन वदन अति खिन्न खेद को पूछ्यो कारन॥
नारद बोले—भक्ति माँ, युवती वृन्दावन लखी।
बूढ़े ज्ञान विराग सुत, निरख भयो मम मन दुखी॥

श्रीहरिः

नारदजी द्वारा भक्ति को कलिप्रभाव जताना

[४]

ततश्चानुदिनं धर्मः सत्यं शौचं क्षमा दया।
कालेन बलिना राजन् नंक्ष्यत्यायुर्बलं स्मृतिः॥
वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदयः।
धर्मन्यायव्यवस्थायां कारणं बलमेव हि॥*

(श्रीमा० १२ स्कं० २ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

बोली मोतें भक्ति—पुत्र बूढ़े माँ युवती।
विष्णुप्रिया है आज भई क्यों नारद! असती॥
हौं बोल्यो—सुनु भक्ति धाम निज श्याम पधारे।
तब कलियुग ने आइ सकल साधन संहारे॥
सारहीन साधन सकल, पुरुष पतित पापी भये।
कलि दावानलतैं झुलसि, धरम करम जरि से गये॥

परोपकारियों को देखकर दुखी नर नारियों को एक स्वाभाविक शांति का अनुभव होता है। उनसे अपनी दुःख की

---

* श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित से कहते हैं—"राजन्! द्वापर के अनन्तर कलि काल आने पर दिनो दिन धर्म, सत्य, शौच, क्षमा, दया, आयु बल तथा स्मृति का ह्रास होने लगेगा। कलि काल में धन के द्वारा ही लोग कुलीन तथा आचारवान् समझे जावेंगे तथा धर्म और न्याय को प्राप्त करने में शारीरिक बल ही प्रधान कारण माना जायगा।"

कहानी कहकर हृदय का भार हलका होता है। परोपकार ही जिनके जीवन का एकमात्र व्रत है वे दूसरों के दुःख को मेटने का सतत प्रयत्न करते हैं इसके लिये उन्हें स्वयं ही कष्ट क्यों न सहन करना पड़े। अपने को कष्ट देकर ही दूसरों का कष्ट दूर किया जा सकता है अपने ऊपर विपत्ति लेकर ही दूसरे की विपत्ति टाली जा सकती है अपने को दुःख देकर ही दूसरों को सुखी किया जाता है। दूसरों के लिये दुःख सहने में ही परोपकारियों को सुख होता है। जैसे माता स्वयं भूखी रहकर पुत्र को खिलाकर ही सुखी होती है। परोपकार व्रत जो भी करते हैं दूसरों के ही लिये करते हैं यद्यपि वे किसी एक को ही उपलक्ष्य बनाकर ही कार्य करते हैं किन्तु उनके उस प्रयास से सम्पूर्ण विश्व का कार्य होता है। विश्व का कल्याण वही कर सकता है जो अपने स्वार्थ के लिये कुछ भी न करे। जिसका अपना निजी सुख-दुख कुछ हो ही नहीं। वह भक्त नहीं भगवान् नर नहीं नारायण है, विष्णुपत्नी लक्ष्मी भी ऐसे परोपकारियों की वन्दना करती हैं, इसीलिये नारदजी की गणना चौबीस अवतारों में है।

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कह रहे हैं—"मुनियो! भक्ति की बात सुनकर नारद कुछ देर विचार करके कहने लगे—"भक्ति महारानी! आप तो विष्णु वल्लभा हैं। आपको इस प्रकार दुःख करना शोभा नहीं देता देखो शरीरधारी कोई भी क्यों न हो दुख-सुख तो उसे होता ही है। और की तो बात क्या भगवान् भी जब अवतरित होकर शरीर धारण करते हैं तो वे भी दुखी होने का अभिनय करते हैं वे भी रोते हैं चिल्लाते हैं सबको अपना दुःख सुनाते हैं। तुम्हें जो दुःख हो रहा है वह किसी पुरुष द्वारा नहीं हो रहा है वह काल कृत दुःख है।

भक्ति देवी ने पूछा—"नारदजी! कालकृत दुःख कैसा?"

नारदजी बोले—"जैसे जाड़ा आ गया तो सभी को जाड़ा लगेगा सभी काँपेंगे। ग्रीष्म ऋतु आयी सभी गरमी का अनुभव करेंगे। वर्षा में सभी को वर्षाजनित दुख-सुख होगा। हाँ जो तितक्षु हैं सहनशक्ति वाले हैं वे उसका अनुभव कम करेंगे किन्तु ऋतु का प्रभाव पड़ेगा सभी पर। इसी प्रकार सत्ययुग में सबकी प्रवृत्ति स्वाभाविक ही धर्म में रहती है सभी ध्यानमग्न रहते हैं। त्रेता में सत्त्व के साथ रजोगुण भी बढ़ता है। इसीलिये राजा ही नहीं बड़े-बड़े ऋषि महर्षि भी यज्ञ यागों में प्रवृत्त होते हैं। द्वापर में सब तांत्रिक यज्ञ पूजा भगवान् की बहुमूल्य द्रव्यों से पूजा करते हैं। कलियुग घोर तमोगुणी युग है। इसमें परम्परागत सदाचार योगमार्ग तथा विविध भाँति के तप सभी लुप्त हो जाते हैं। इस समय कलियुग आ गया है इसीलिये तुम्हारी कहीं पूछ नहीं।"

भक्ति ने पूछा—"कलियुग में लोगों का मन कैसा हो जाता है, नारदजी!"

नारदजी बोले—"देवि! आप कलियुगी लोगों की बातें न पूछें तो ही अच्छा है। आजकल मनुष्य अपने मानव स्वभाव को त्यागकर दैत्यों के समान असुरों के समान हो गये हैं। शठता ने आकर उनके अन्तःकरण में अड्डा जमा लिया है। प्राचीन सदाचार को लोग छोड़ रहे हैं। नित्य नये कुकर्म करते रहते हैं इन्द्रियों के सुख के लिये वे सदाचार से सर्वदा दूर रहते हैं। इसी कारण जो साधु स्वभाव के सदाचारी हैं, जो कलियुग के प्रभाव से बचना चाहते हैं वे दुखी रहते हैं। जो लोग आचार सत्य सदाचार को खोकर कलियुग की हाँ-में-हाँ मिलाते हैं वे आनन्द उड़ाते हैं। इससे लोग सोचने लगते हैं यदि पाप करने से ही पैसा प्राप्त होता है तो हम पुण्य परोपकार के पचड़े में क्यों पड़ें। वे भी अपने धैर्य को खो बैठते हैं।"

भक्ति ने पूछा—"तो क्या सभी कलियुग के प्रभाव में आ गये हैं ?"

नारदजी ने कहा—"ऐसी बात तो नहीं है। इस कलियुग में भी कुछ साधु पुरुष रह जाते हैं, वे अपने मन में धैर्य धारण करे रहते हैं, संसारी सुखों की वे अपेक्षा नहीं करते, किन्तु होते हैं विरले ही। ऐसे समय में जिनका धैर्य बना रहे वे सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं। उनके समान बुद्धिमान धैर्यवान् गुणवान् होना कठिन है।"

भक्ति ने कहा—"नारद ! यह भूदेवी मेरी बहिन है यह धर्म को धारण क्यों नहीं करती ?"

नारदजी ने कहा—"इस पृथ्वी पर जब तक श्रीकृष्ण भगवान् के चरणारविन्द थे तब तक यह भी अपने भाग्य को सराहती थी। उस समय यह पृथ्वी शेषजी को सरसों से भी कम हलकी जान पड़ती थी। उन्हें अनुभव भी नहीं होता था मेरे सिर पर कोई भार है। जिस दिन से भगवान् इस धराधाम को त्यागकर निजलोक को पधार गये तब से यह धरणी मंगल-हीन हो गयी। शेषजी को अब यह भार भूता बन गयी। अब इसे छूना तो पृथक् रहा देखना भी कठिन हो गया।

पृथ्वी की भाँति तू भी प्रभु की प्रिया थी जिसके हृदय में तू बस जाती थी वहाँ भगवान् को विवश होकर आना ही पड़ता था। किन्तु ये कलियुगी लोग तेरी ओर ताकते भी नहीं। तेरे भक्तों को सब ढोंगी समझते हैं। तेरे पुत्रों–ज्ञान और वैराग्य–को कोई पूछता नहीं, उनका कोई सम्मान नहीं करता। प्राणी जिसका तिरस्कार करते हैं उपेक्षा करते हैं वह वृद्ध न होने पर भी चिन्ता के कारण वृद्ध बन जाता है। अपमान से पुरुष स्वतः ही जर्जर हो जाता है। सम्भावित की अकीर्ति मरण से भी

अधिक दुखदायी है। इसी निमित्त तू देश देशान्तरों में घूमने से बूढ़ी हो गयी।"

भक्ति ने पूछा—"तो फिर मैं यहाँ आकर सहसा युवती क्यों बन गयी ?"

नारदजी ने कहा—"भक्ति देवी ! पुरुषों पर देश काल और पात्रता का प्रभाव पड़ता है। कलिकाल के प्रभाव से तो तुम वृद्धा बनी थीं, किन्तु यहाँ श्री वृन्दावन धाम में दिव्य देश के प्रभाव से तुम पुनः वृद्धा से युवती बन गयीं।"

भक्ति ने कहा—"देवर्षे ! काल का प्रभाव तो सभी पर समान रूप से होना चाहिये। जब मैं वृद्धा से युवती बन गयी तो मेरे ये पुत्र-ज्ञान वैराग्य-युवा क्यों नहीं हुए ? यह विपरीत बात है, मेरे लिये लज्जा की बात है ?"

नारदजी ने कहा—"देवि ! काल का प्रभाव भी साम्य प्रकृति के ही कारण पड़ता है। जैसे काश्मीर में ही केशर होती है। वहाँ भी सर्वत्र नहीं एक नियमित भूप्रदेश में ही उसकी खेती हो सकती है, नीम वहाँ पनप नहीं सकता। वृन्दावन धाम भक्ति का ही स्थल है। तुम यहाँ नित्य स्वच्छन्द नृत्य करती रहती हो यह धन्यधाम भक्ति की ही क्रीड़ा भूमि है। ज्ञान वैराग्य-तुम्हारे पुत्रों को यहाँ आन्तरिक शान्ति तो अवश्य मिलती है, किन्तु यहाँ इनका कोई ग्राहक नहीं सम्मान करने वाला नहीं। सम्मत भक्ति के आचार्य वृन्दावन के ही आश्रय से भक्ति पाते हैं। भक्ति का यही स्थल है। देवि ! तुम्हारा स्थायी स्थान यही है। द्रविड़ आदि देशों मे तुमने यहीं से जाकर अवतार लिया था, वहाँ आपके बाल्यरूप की पूजा होती है, कर्णाटक महाराष्ट्रादि देशों में तुम्हारा कुछ बड़ा रूप है। गुर्जरादि देशों में तुम शिथिल पड़ जाती हो यहाँ आकर पुनः नवीन रूप रखकर अंग, वंग, सौराष्ट्र, गुर्जर, मगध तथा दूसरे देशों को पुनः प्रदीप्त करती

हो। ज्ञान वैराग्य सहित तुम्हारी उपासना गंगा यमुना के मध्य भागों में होती है। इसीलिये ज्ञान वैराग्य का बुढ़ापा तो गंगा यमुना के मध्य के पावन प्रदेश में जिसे अन्तर्वेद ब्रह्मर्षि प्रदेश तथा ब्रह्मावर्त कहते हैं। कलियुग ने ही तुम तीनों की ऐसी दुर्गति कर दी है नहीं तो अन्य युगों में समस्त भूमंडल में तुम्हारा और तुम्हारे पुत्रों का समुचित आदर था।"

भक्ति ने पूछा—"नारद! तुम ब्रह्माजी के मानस पुत्र हो सर्वज्ञ हो। तुमसे मैं एक बात पूछती हूँ। देखो, धर्मराज युधिष्ठिर के पौत्र धर्मात्मा महाराज परीक्षित् जब दिग्विजय के निमित्त निकले तब सरस्वती नदी के तट पर उनकी कलियुग से भेंट हुई धर्मात्मा महाराज जानते थे, यह कलियुग सभी साधनों का बाधक है, तब उन्होंने इस कलियुग को आश्रय ही क्यों दिया इसे अपने राज्य से निकाल क्यों नहीं दिया ?"

नारदजी ने कहा—"देवि! तुम्हारा कहना सत्य है। संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जिसमे दोप-ही-दोप हो, एक भी गुण न हो। संसार में एक भी पुरुष ऐसा नहीं जिसमें अवगुण-ही-अवगुण हों, एक भी गुण न हो। यह संसार गुण और दोप के मिश्रण से बना है।"

भक्ति ने पूछा—"तो क्या इस पाप के मित्र कलियुग में भी कोई गुण है क्या ?"

नारदजी ने कहा—"हाँ, है क्यों नहीं। इसमें एक ऐसा बहुत बड़ा गुण है, उसी पर रीझ कर तो महाराज परीक्षित् ने वश में आने पर भी इसे मारा नहीं—देश से निकाला नहीं इसे आदर पूर्वक अपने राज्य में स्थान दिया ?"

भक्ति ने पूछा—"वह ऐसा कौन-सा गुण है नारदजी! किस गुण पर रीझकर राजा ने इसे धराधाम पर रहने दिया ?"

नारदजी ने कहा—"भक्तिदेवि! तुमने बड़ा ही सुन्दर प्रश्न

किया। इस प्रश्न के उत्तर से तुम्हारा समस्त शोक संताप तथा दुःख दूर हो जायगा। हे कल्याणि! मैं तुम्हारे लोक हितकारी प्रश्न का यथावत् उत्तर देता हूँ, तुम इसे प्रेमपूर्वक श्रवण करने की कृपा करो।"

"देखो, महाभारत के अन्त में जब आनन्दकंद श्रीकृष्णचन्द्र जिस दिन धराधाम को त्यागकर अपने परमधाम को पधारे, उसी दिन यह धर्मशत्रु अधर्ममित्र पृथ्वी पर आ गया, किन्तु खुलकर खेलने का इसे अवसर नहीं मिला। छिपे-छिपे यह प्राणियों की बुद्धि को बिगाड़ने लगा, किन्तु इसकी दाल गली नहीं। कारण यह कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है। धर्म-अधर्म के प्रचार-प्रसार का कारण राजा अथवा शासक ही है। राजा यदि धर्मात्मा होगा, तो उसकी प्रजा को विवश होकर धर्म करना ही पड़ेगा, इसके विपरीत राजा अधार्मिक हुआ तो प्रजा भी अधर्म में प्रवृत्त होगी। महाराज परीक्षित् ने माता के उदर में ही भगवान् के दर्शन किये थे, भगवान् विष्णु ने ही उनकी रक्षा की थी, इसीलिये उनका नाम "विष्णु रात" प्रसिद्ध हुआ। ऐसे धर्मात्मा राजा की प्रजा में कलियुग बिना उनकी सम्मति के आ ही कैसे सकता है।"

जब सरस्वती के तट पर राजा परीक्षित ने कलियुग को शूद्र राजा के वेष में गौ बैल पर प्रहार करते देखा और उसे मारने दौड़ा, तब कलियुग ने तुरन्त राजा के पैर पकड़ लिये और अत्यन्त दीन होकर आर्तभाव से उनकी शरण गया, तो शरणागतवत्सल, दीन प्रतिपालक महाराज परीक्षित् ने उसे मारा नहीं अपने राज्य से निकलने को कहा। फिर उन्होंने कलियुग के गुण दोषों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया। राजा ने कलियुग में दोष बहुत देखे किन्तु एक इतना भारी गुण देखा कि राजा को उसे शरण देनी ही पड़ी। राजा तो भ्रमर की भाँति सारग्राही थे;

वे गुणों का आदर करना जानते थे। इसीलिये उन्होंने सो "जब कलियुग में इतना भारी गुण है जो दूसरे युगों में है" तो राजा इसके वध से निवृत्त हो गये।

भक्ति ने पूछा—"उस गुण को बताइये भी तो।"

नारदजी ने कहा—"देवि ! कलियुग में यही सबसे श्रेष्ठ है, कि अन्य युगों में जो फल सहस्रों वर्षों की भारी तपस्या, योगाभ्यास, तथा समाधि से भी नहीं मिलता था, वही फल इस कलियुग में केवल श्रीभगवन्नाम के कीर्तन से भली-भाँति प्राप्त हो जाता है। इसी एक गुण से महर्षिगण अन्य युगों की अपेक्षा कलियुग की बड़ी भारी प्रशंसा करते हैं। इसी सुगमता सरलता के कारण देवतागण भी कलियुग में धराधाम पर जन्म लेना चाहते हैं, कि केवल केशव कीर्तन करके ही हम कैवल्य को प्राप्त कर लेंगे। इसी कारण इस सारहीन युग में भी लोग सुगमता से तर जाते हैं, वैसे इस युग को निस्सार बताया है। राजा परीक्षित् ने कलियुगी जीवों के सुख के ही निमित्त इसे रहने दिया।"

भक्ति ने पूछा—"नारदजी ! कलियुग को ऋषियों ने निस्सार क्यों बताया है, कलियुग के आते ही सब वस्तुओं का सार कहाँ चला जाता है, सभी साधन खोखले क्यों हो जाते हैं ?"

नारदजी ने कहा—"देवि ! दूध में से मक्खन को निकाल लो तो वह सारहीन दूध रह जाता है, अन्न में से उसका सार निकाल लो तो वह निस्सत्व अन्न हो जाता है। दूषित भावना से भी वस्तु सारहीन हो जाती है। कलियुग में कुकर्मों में लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है इसी कारण से सब वस्तुओं का सार निकल गया है जैसे धान में से बीज तो निकाल लिया जाय केवल भूसी ही भूसी अवशेष रह जाय। और की तो बात क्या कलिकाल में भागवती कथा भी भावना के कारण निस्सार हो गयी है।"

भक्ति ने पूछा—"नारदजी! भगवान् की कथायें तो प्राणी-मात्र को तारने वाली हैं, वे सारहीन कैसे हो गयीं?"

नारदजी बोले—"देवि! इन जीविका के ही लिये कथा कहने वाले लोभी अजितेन्द्रिय ब्राह्मणों ने ही भागवती कथाओं को सारहीन बना दिया। इन कथावाचकों को भगवान् के ऊपर तो विश्वास नहीं। पोथी पत्रा बाँधा, विषयियों के द्वार-द्वार घूमते रहे, हमसे कथा कहला लो। न ये पात्र को देखते हैं न अपात्र को। कैसा भी दम्भी कपटी विषयी व्यभिचारी क्यों न हो, इन्हें रोटी खिला दे, मुट्ठी भर अन्न दे दे, चाहे जितनी देर कथा सुन ले। जो वस्तु सुगम हो जाती है उसका लोग आदर नहीं करते। दाने-दाने के लोभ से कथा कहने से कथा का सार निकल गया, उसका महत्व नष्ट हो गया। अनाधिकारियों को कथा सुनाने से कभी-कभी अर्थ का अनर्थ हो जाता है। इसीलिये लोग इतनी कथायें सुनते तथा पढ़ते हैं, उन पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। पड़े कैसे, कथा तो सारहीन है। भगवान् की कथा और तीर्थ सेवन ये ही संसार से तरने के उपाय हैं। ये ही सारहीन हो गये। तीर्थों का तीर्थत्व ही लुप्त प्रायः हो गया। उनका भी यथार्थ-सार समाप्त हो गया। वे भी सारहीन बन गये।"

भक्ति ने पूछा—"तीर्थ कैसे सारहीन हो गये?"

नारदजी ने कहा—"पहिले तीर्थों में सदाचारी, उदारचेता धर्मात्मा ही निवास करते थे, उनके कारण तीर्थ हरे-भरे सारयुक्त बने रहते थे। जब से तीर्थों में दम्भी पाखंडी लोग घुस गये, जब से तीर्थों में कामी, क्रोधी तथा लोभी पुरुष रहने लगे तब से तीर्थों का सार चला गया। आज तो जितने पाप होते हैं सब तीर्थों में ही होते हैं। लोग गर्भवती विधवा तथा कुमारी स्त्रियों को तीर्थों में ही छोड़ जाते हैं। तीर्थवासी परस्त्रीगामी, व्यभिचारी बन गये हैं, वे सदा यात्रियों के धन और धर्म का

अपहरण करने में ही लगे रहते हैं, बड़े-बड़े जघन्य पाप करते हैं, कुछ ही पैसों के कारण लोगों की हत्या कर डालते हैं। स्वयं जिन्हें तीर्थों पर विश्वास नहीं ऐसे नास्तिक पाखंडी धर्मध्वजी बने तीर्थों में घूमते हैं। जिन कर्मों को वे नारकी तीर्थवासी नित्य करते हैं ऐसे पापाचारियों के निरन्तर रहने से तीर्थों का भी सार चला गया। कलियुग में तपस्या भी सारहीन हो गयी।"

भक्ति ने पूछा—"नारदजी! तप का सार कहाँ चला गया?"

नारदजी बोले—"देवि! पहिले सदाचारी धर्मात्मा, उपासना करने वाले ही तप करते थे। आजकल कलिकाल में तो जिनका चित्त काम की अग्नि से जल रहा है, क्रोध के दावानल से दग्ध हो रहा है, महालोभ के कारण व्याकुल बना है, तृष्णा के ताप से संतप्त हो रहा है, ऐसे लोग भी तपस्या का ढोंग रचते हैं। गुण तो गुणी के ही पास जाकर यथार्थ गुण बनकर प्रकट होता है, यदि गुण भी निर्गुण के पास चला जायगा तो वह दोष ही होगा। इसी प्रकार तप यदि कामी, क्रोधी, लालची करें तो उनकी कामवासना और बढ़ेगी, उनका क्रोध सीमा का अतिक्रमण कर जायगा। लोभ उनके विवेक को खोदेगा। ऐसे लोगों के कारण ही तपस्या का सार निकल गया। और तो और ध्यान योग भी कलिकाल में प्रभावहीन पड़ गया।"

भक्ति ने पूछा—"ध्यान योग सारहीन कैसे हो गया?"

नारदजी ने कहा—"देवि! इस कलियुग की महिमा तो देखिये। ध्यान योग भी एक व्यापार बन गया है। लोग ध्यान सिखाने के नाम पर लोगों को ठगते हैं। उन ध्यान सिखाने वालों का स्वयं तो मन संयम में नहीं। दूसरों को संयम करने की शिक्षा देते हैं। सदा उनके मनमें लोभ भरा रहता है कैसे धनिक नर-नारी फँसे, कैसे उनसे रुपया ऐंठें। धर्मशाला, पाठशाला, गोशाला के नाम से उनसे भवन बनाने को धन लेते हैं, उनको नाम खुदाने

का लालच देते हैं। सौ पाखंड रचकर उनसे द्रव्य लेते हैं। दम्भ ऐसा करेंगे, कि अपने को साक्षात् सिद्ध प्रकट करेंगे। कुछ लोगों को रुपये पैसे या अन्य किसी वस्तु का लोभ देकर अपना दलाल बना लेंगे। वे उनकी असत्य प्रशंसा करते फिरेंगे। शास्त्रों का कभी अभ्यास किया नहीं, गुरुमुख से कोई आर्षग्रन्थ पढ़ा नहीं फिर भी लोगों को पंक्तिबद्ध बिठाकर शिक्षा देंगे, यों सीधे बैठो, सोचो मैं देह नहीं, इन्द्रिय नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं।

जैसे अन्धे को अन्धा मार्ग दिखावे दोनों ही कूए में गिरें। ऐसे ही ये ध्यान योग सिखाने वाले दम्भी स्वयं नरक में जाते हैं, साथ ही अपने ग्राहकों से-जिनसे छल बल कला कौशल से द्रव्य ठगा है उन्हें भी नरक में ले जाते हैं। ऐसे लोगों के कारण ध्यान योग भी सारहीन हो गया पंडित भी नाम के ही रह गये। उनकी सद् असद् विवेक वाली बुद्धि विषयों में ही लग गयी। पहिले पंडित लोग शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार केवल पुत्रोत्पत्ति के ही निमित्त अपनी भार्या मे गमन करते थे। किन्तु आज समय असमय गम्यागम्य का कुछ भी विचार नहीं करते। जैसे भैंसे जब चाहें तब समागम कर लेते हैं वही दशा इन कलियुगी पंडितों की है। सन्तान पैदा करने में तो बड़े शूरवीर हैं, किन्तु मुक्तिमार्ग का अनुसरण करने में कोरे हैं। इसी प्रकार वैष्णवता लुप्त हो गयी।"

भक्ति ने पूछा—"वैष्णवों में क्या दोष आ गया?"

नारदजी ने कहा—"भक्ति महारानी! वैष्णव दो प्रकार के होते हैं एक तो भीतर से वैष्णव एक बाहर से वैष्णव। भीतर से तो वैष्णव वे हैं कि अपनी गुरु परम्परा से जो भी उपदेश प्राप्त हुआ उसका पूर्णरीत्या पालन करना। किसी दूसरे की निन्दा न करना। भीतरी साधनों पर ही बल देते रहना। मन को सदा प्रभु के पादपद्मों में ही लगाये रहना। अन्तः

में सद्‌गुणों को धारण करना। बाहरी वैष्णव वे हैं। मन्त्र-तन्त्र गुरु उपदेश किसी का ध्यान न रखना। बाहरी चिन्हों को ही सब कुछ समझना। जो अपने जैसे चिह्न न धारण करे उनकी सदा निन्दा करते रहना। सदा दूसरी सम्प्रदाय के लोगों से राग-द्वेष बनाये रखना। इन कारणों से यथार्थ वैष्णवता लुप्त हो जाती है। उनका चिह्नों का आग्रह कलह का प्रबल कारण बन जाता है। ऐसे लोगों के कारण भक्ति सारहीन हो जाती है। इन्हीं सब कारणों से वस्तुओं का सार लुप्त हो गया। सभी साधन, सभी वस्तुएँ निस्सार बन गयीं।"

भक्ति ने कहा—"नारदजी! यह तो बड़ा पाप हो रहा है। आप जैसे समर्थ पुरुषों को इस अन्याय को रोकना चाहिये।"

हँसकर नारदजी बोले—"देवि! प्रबल प्रवाह कहीं रोकने से रुकता है? यह तो समय का प्रभाव है, युग धर्म है। इसमें किसी का दोष नहीं। जाड़े के समय में तो जाड़ा आवेगा ही। गर्मियों में गर्मी पड़ेगी ही। भगवान् कहीं चले थोड़े ही गये हैं वे तो यत्र-तत्र-सर्वत्र हैं। सबके अन्तःकरण में विराजमान हैं।"

भक्ति ने पूछा—"नारदजी! इतने भारी अन्याय को करुणा के सागर भगवान् सहन क्यों कर रहे हैं। क्या वे इन दंभी, पापी पाखंडियों को दंड नहीं दे सकते? वे इन अन्याय को रोक नहीं सकते?"

नारदजी ने कहा—"देवि! भगवान् सब कुछ कर सकते हैं, किन्तु जो भी कुछ हो रहा है उनकी इच्छा के बिना थोड़े ही हो रहा है। कलियुग भी तो उन्हीं का पुत्र है। अधर्म भी तो उनके पृष्ठ भाग में सदा स्थित रहता है वह भगवान् के अंग से भिन्न नहीं। युगों का गमनागमन उनके ही संकल्प से होता है। इसीलिये वे सब कुछ देखते हुए भी इस अन्याय को सहन कर रहे हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारदजी के मुख से ऐसी गंभीर ज्ञानयुक्त बात सुनकर भक्ति महारानी को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे अपने तथा पुत्रों के दुःख को कुछ काल के लिये सर्वथा भूल गयीं। उन्होंने नारदजी की स्तुति करते हुए कहा—"हे देवर्षे! आप धन्य हैं, हे ब्रह्मपुत्र आपकी जय हो। हे करुणा सागर! आपका मङ्गल हो। ये परोपकार व्रती! आपकी कीर्ति तीनों लोकों में व्याप्त हो। आज मेरा परम सौभाग्य है, जो आपके मुझे दर्शन हुए। आपने यहाँ पधार कर मुझे कृतार्थ किया। संसार में सभी वस्तुएं सुलभ हैं, किन्तु सच्चे साधु का दर्शन देवताओं को भी दुर्लभ है। और वस्तुएँ तो उपयोग से सिद्धि देती हैं किन्तु साधु का तो दर्शन ही सबसे श्रेष्ठ सिद्धि देने वाला होता है। आपने बहुत से लोगों को दर्शन देकर कृतार्थ किया है। प्रह्लाद जी तो अपनी माता के गर्भ में ही थे। उस समय ही आपने उन्हें सदुपदेश देकर कृतार्थ कर दिया। वे इस दुस्तर माया को परास्त करके परमधाम को प्राप्त हुए। ६ वर्ष के ध्रुवजी आपके ही उपदेश से ध्रुवपद के अधिकारी हुए। एक नहीं असंख्यों जीवों का आपने उद्धार किया। अगणित पुरुषों को प्रभु के सम्मुख कर दिया। आप मंगलमय हैं, आनन्द की मूर्ति हैं, पुण्य प्रदान करने वाले तथा भक्ति देने वाले हैं। आप ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं, आप सर्वगुण सम्पन्न हैं, आप परोपकार में ही निरन्तर संलग्न रहते हैं। हे देव! आपके पादपद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम है। आपको शत-शत नमस्कार है। आपकी जय हो जय हो। अब मेरे भी उद्धार का कोई उपाय बताइये। मुझे भी इस विपत्ति से छुड़ाइये। मेरे हृदय में भी ज्ञान की ज्योति जगाइये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भक्ति इस प्रकार नारदजी की स्तुति करके चुप हो गयी। अब नारदजी जैसे भक्ति को सांत्वना

देंगे उसे समझावेंगे उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा। आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

कथा, कीरतन, योग आदि व्यवसाय भये अब।
दम्भी, कपटी, कुटिल लोभवश रचैं स्वांग सब॥
नहिँ काहू को दोष समय सबई करवावे।
शिशिर काल में शीत बुलाये बिनु ही आवै॥
सुमुखि! सकल चिन्ता तजहु कृपा कन्हैया करिहैं।
शरनागत के शोक हर-हृदय-हार-हरि हरिहैं॥

नारदजी द्वारा भक्ति की महिमा

[५]

यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २० अ० ३२-३३ श्लोक)

छप्पय

कृष्णा करी पुकार पैठि पट प्रभु पति राखी ।
ब्रज बनितनि की करी कामना पूरी साखी ॥
तुम तो तिनकी प्रिया मुक्ति पद पदुम पलोटैं ।
पुत्र ज्ञान वैराग्य वृद्ध बनि कलि ढिंग लोटैं ॥
तजो शोक संताप सब, तुमकूँ सबल बनाउँगो ।
करूँ प्रचार न तो शपथ, नहिँ हरि-दास कहाउँगो ॥

जिनके हृदय में भगवत् भक्ति है उनको और चाहिये ही क्या, जो भक्ति से शून्य हैं उनके पास है ही क्या ? ये संसारी

* भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! मेरी भक्ति से ही सब कुछ मिल सकता है। कर्मों से, तपस्या से, ज्ञान वैराग्य से, योग से, दान धर्म से तथा और भी जितने श्रेय के साधन हैं उनसे जो भी कुछ स्वर्ग मोक्ष, अथवा मेरा वैकुण्ठादि परम धाम प्राप्त होता है वह सभी यदि मेरा भक्त चाहे तो केवल मेरी भक्ति के ही द्वारा सरलता से सबको प्राप्त कर सकता है।"

सुख क्षणभंगुर हैं। भक्ति के बिना, ज्ञान, वैराग्य, कर्म, तथा योग शोभा नहीं देते। भक्ति हृदय को सरस बनाती है, वह पाषाण को भी पिघला देती है। ज्ञान वैराग्य तो भक्ति के पुत्र हैं। माता के साथ वे बिना बुलाये—बिना आह्वान तथा निमंत्रण के—अपने आप आ जाते हैं। मुक्ति तो भक्ति की दासी है। बिना दाम की चेरी है। जहाँ भक्ति महारानी पधारेंगी, वहाँ मुक्ति दासी को जाना ही पड़ेगा। न जायगी तो सेवा कौन करेगा। अतः चरम साध्य तो भक्ति ही है। उसी के लिये प्रयत्न करना चाहिये और साधन तो भक्ति के पार्श्ववर्ती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भक्ति देवी ने नारदजी की प्रशंसा की और उनकी बार-बार स्तुति की, तब नारदजी ने भक्ति से कहा—"देवि! आप इतनी चिन्तित क्यों हैं, आपको इस प्रकार खेद करना शोभा नहीं देता।"

भक्ति ने कहा—"नारदजी! आप देख नहीं रहे हैं, युवती माता के सम्मुख पुत्र बूढ़े और अचेतन हो जायँ क्या उसे दुःख न होगा?"

नारदजी ने कहा—"दुःख करने से क्या बनेगा? मैं दुःख मेटने की एक अव्यर्थ अचूक औषधि जानता हूँ।"

भक्ति ने पूछा—"कौन-सी औषधि है वह नारदजी!"

नारदजी बोले—"हरिस्मृति ही सर्वविपदाओं को मिटाने वाली एक मात्र औषधि है। आप श्रीकृष्ण चरणारविन्दों का श्रद्धा से स्मरण करें। उनके स्मरण मात्र से तुम्हारे समस्त दुःख दुरित दूर हो जायँगे।"

भक्ति ने कहा—"नारदजी! श्रीकृष्ण तो इस धरा धाम का परित्याग करके परलोक—अपने निजलोक—को पधार गये।"

नारदजी बोले—"देवि! वे अपने वाह्य प्रकट रूप से तिरोहित मात्र हो गये हैं। वे सूक्ष्म रूप से सदा, सर्वदा सर्वत्र, सबके

समीप विराजते हैं। वे स्मरण मात्र से ही आकर अपने आश्रितों की रक्षा करते हैं, आर्तों की पुकार सुनते ही वे अविलम्ब आते हैं। कौरव लोग जब पाँचों पांडवों की पत्नी द्रौपदी को नग्न कर रहे थे, तब वे सुदूर देश द्वारका में बैठे थे। द्रौपदी ने पुकारा द्वारकानाथ! तब भगवान् चलने को उद्यत हुए। द्रौपदी ने हाथ से कसकर अपने वस्त्र को पकड़ लिया। दस सहस्र हाथियों के बल वाले दुश्मन ने एक झटके में हाथ छुड़ा लिया। द्रौपदी ने कहा—"भक्तवत्सल! और वस्त्र को दाँत से दबा लिया। भगवान् अपनी भक्ता द्रौपदी की रक्षा के लिये चल पड़े। जब दुश्शासन ने दाँत से भी साड़ी को छुड़ा लिया तब विह्वल होकर द्रौपदी ने पुकारा—"हे सर्वान्तर्यामिन्! हे घटघटवासी! दासी सर्वात्मभाव से आपकी शरण है अब मेरा अन्य कोई भी सहायक नहीं।" तब भगवान् को कहीं से आना न पड़ा उस वस्त्र में ही प्रकट हो गये। उस जड़ चीर को ही अक्षय बना दिया।

इसी प्रकार रास में श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये। गोपिकायें वन-वन में भटकती रहीं उन्हें दूर समझकर बाहर-बाहर खोजती रहीं जब बाहर ढूँढ़कर थक गयीं तो वहीं रासस्थली में लौटकर आर्तस्वर में गाने लगीं कि आप केवल यशोदा-नन्दन ही नहीं हो प्राणिमात्र के रक्षक हो घट-घट व्यापी हो आप हमें दर्शन दें। भगवान् कहीं गये थोड़े ही थे उनकी आँखों में ही छिपे थे हृदय में दुबके बैठे थे। आखें बाहर की वस्तुओं को देखती हैं अपने में लगे काजर को नहीं देखतीं। हम दूसरों के हृदय की बात जानने का मिथ्याभिमान करते हैं अपने हृदय में छिपे श्यामसुन्दर को नहीं देखते। जब गोपियों ने अपने ही स्थान पर बैठकर रोते-रोते श्रीकृष्ण को पुकारा तो हँसते हुए श्यामसुन्दर उनके सम्मुख आविर्भूत हो गये। वे श्रीकृष्ण कहीं चले थोड़े ही गये हैं।

भक्ति ने कहा—"नारदजी ! चले भले ही न गये हों, किन्तु आँखों से तो ओझल हो ही गये हैं।"

नारदजी ने कहा—"देवि ! आप कैसी भूली बातें करती हैं। ओझल हो गये हैं अज्ञानियों के लिये। तुम तो उनकी प्राणों से भी अधिक प्यारी हो। भगवान् वेद मंत्रों से बुलाने पर जहाँ नहीं जाते, बड़े-बड़े बहुमूल्य द्रव्यों से पूजे जाने पर नहीं पधारते। वे ही तुम्हारे कारण नीच से नीच चांडालों के भी घर में प्रेमपूर्वक चले जाते हैं। तुम तो सदा मुक्ति को दिलाती हो तुम्हारे पूछे बिना तो प्रभु कुछ करते ही नहीं।"

भक्ति ने कहा—"देवर्षि ! मैं अकेली कर ही क्या सकती हूँ।"

नारदजी ने कहा—"भगवति ! तुम ऐसा मत कहो, दूसरे युगों मे तो तुम यह बात कह भी सकती थीं। अन्य युगों में तो तुम्हारे साथ जब तक ज्ञान वैराग्य कर्म योग ये नहीं हों तब तक मुक्ति नहीं होती थी किन्तु कलयुग में तो केवल तुम विशुद्ध भक्ति ही ब्रह्म सायुज्य कराने वाली हो। इसी काम के लिये तो श्यामसुन्दर ने तुम्हारी सृष्टि की है। तुम्हें तो वह सब इतिहास विदित ही होगा।"

एक बार भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने आनन्द में तुम्हारी अपने निजलोक में सृष्टि की तुम अनुपम रूप लावण्य युक्त परमसुन्दरी चारुहासिनी मृदुभाषणी थी। तुमने हाथ जोड़कर अत्यन्त ही नम्रता के साथ परमानन्द चिन्मूर्ति ज्ञान स्वरूप भगवान् श्यामसुन्दर से कहा—"प्रभो ! मेरी सृष्टि किस निमित्त की गयी है ? मेरे लिये क्या आज्ञा होती है मैं आपका कौन-सा कार्य करूँ ?

भगवान् ने कहा—"देवि ! तुम आज से मेरे भक्तों का पोषण करो। उनकी पुष्टि-तुष्टि का कारण बनो।"

तुमने भगवान् की आज्ञा को सिर झुकाकर स्वीकार किया और नम्रता से कहा—"जो स्वामी की आज्ञा है वह मुझे सर्वथा स्वीकार है किन्तु मेरी सेवा के लिये कोई दासी भी तो चाहिये।"

भगवान् के पास एक मुक्ति नाम की दासी थी। तुरन्त ही प्रसन्न होकर भगवान् ने उसे तुम्हारे साथ कर दिया और आज्ञा दी—"यह मुक्ति तुम्हारी सेवा में रहेगी तुम जहाँ आज्ञा दोगी वहीं जायगी।"

तुमने मुक्तिनाम की दासी को स्वीकार करते हुए कहा—"महाराज दासी तो साथ रहेगी ही किन्तु अकेली स्त्री का कहीं जाना शोभा नहीं देता। हाँ, स्त्री पुत्रवती हो जाय तो वह पुत्रों को साथ लेकर कहीं भी जा सकती है। आप तो मेरे हृदय में रहोगे ही किन्तु साथ में भी एक दो पुरुष चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, इन बच्चों को तुम सदा साथ रखो। इन्हें तुम अपने पुत्र ही बनालो। दोनों को गोद ले लो। पुत्र तो तुम्हारे ही होंगे, किन्तु ये ज्ञान वैराग्य तुम्हारी दासी की भी सेवा किया करेंगे।"

तब से तुम भगवत् भक्तों का पोषण करने लगीं। तुम अपने साक्षात् रूप से तो सदा श्रीकृष्ण के समीप वैकुंठ में ही वास करती हो। एक दूसरा छाया रूप बनाकर भूलोक में भी रहती हो यह तुम्हारा वही छाया रूप है।"

तुम्हें कुछ कमी तो थी नहीं। सर्वसमर्थ दासी, प्रबल पराक्रमी दो पुत्र उनके साथ तुम सत्युग से लेकर द्वापर पर्यन्त आनन्द से विचरण करती रहीं। भक्तों की मनोकामनायें पूर्ण करती रहीं। अधिकारी भेद से किसी को मुक्त कर देतीं किसी को परमधाम वैकुंठ भेज देती। जब कलियुग आ गया तो कलियुग के साथ रोगों का भी एक दल आ गया उनमें एक रोग बड़ा प्रबल

था। उसका नाम था 'पाखंड' न जाने किस वैर से वह तुम्हारी दासी के पीछे लग गया। मुक्ति जहाँ भी जाने की इच्छा करे, पाखंड पहिले से वहाँ पहुँच कर उसके विरुद्ध वातावरण उत्पन्न करदे, लोग मुक्ति का आदर ही न करें।"

एक दिन मुक्ति ने कहा—"देवि ! यह पाखंड नाम का धूर्त मेरे पीछे पड़ गया है। इसके कारण मुझे कोई पूछता ही नहीं। मेरा अब यहाँ कोई प्रयोजन भी नहीं रहा। कलियुग की जलवायु मेरे अनुकूल भी नहीं पड़ती। मेरा शरीर दिन-दिन कृश होता चला जा रहा है। आपकी आज्ञा हो तो मैं कुछ दिन बैकुंठ में ही रहकर जलवायु परिवर्तन कर आऊँ। जब यह कलियुग बीत जायगा, तो फिर मैं आ जाऊँगी, या बीच में मेरी जब आवश्यकता हो, आप बुला लें। आपके आह्वान करते ही मैं आ जाया करूँगी। अब मेरा यहाँ रहना व्यर्थ ही है। स्त्री और सब सह सकती है, किन्तु वह उपेक्षा सहन नहीं कर सकती।"

तुमने कहा—"अच्छा, बहिन जाओ जब तुम्हारा शरीर ही स्वस्थ नहीं रहता तो भूलोक में रहने से लाभ ही क्या ? वैकुंठ में भी मेरा एक रूप है ही मैं तो चाहे कोई भी युग क्यों न हो, कोई भी देश क्यों न हो वहाँ का जलवायु कैसा भी क्यों न हो इस धराधाम को छोड़ नहीं सकती। मुझे तो भगवान् ने भक्तों के पोषण करने के निमित्त बनाया ही है। फिर भी मैं अकेली नहीं रहना चाहती। मेरे ये दो पुत्र हैं हीं। यद्यपि इनका भी बहुत अपमान होता है। अज्ञान दंभ इनके भी पीछे पड़े हैं, किन्तु ये तो पुरुष हैं सब सह लेंगे, तुम प्रसन्नता से वैकुण्ठ चली जाओ। जब मैं बुलाऊँ तब आ जाना।"

ऐसा कहकर तुमने मुक्ति को तो विदा कर दिया इन दो बालकों के साथ तुम कलियुग के कुकर्मों को सहन करती हुई यहाँ रह गयीं। तुम्हारे पुत्रों का सर्वत्र अपमान होता है, चित्त

तो इनका भी यहाँ नहीं लगता, किन्तु भगवत् कृपा से ये दोनों बालक मातृभक्त हैं, तुम्हें छोड़कर जाना नहीं चाहते नित्य का अपमान सहते-सहते ये जर्जर हो गये हैं, असमय में इन्हें बुढ़ापा आ गया है इनके शरीरों में उत्साह नहीं रहा, अपने दिन काट रहे हैं सत्ययुग आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

भक्ति ने कहा—"देव ! मुझसे इन पुत्रों का दुखः देखा नहीं जाता।"

नारदजी बोले—"देवि ! तुम चिन्ता मत करो, मैं इनके स्वस्थ करने का कोई उपाय सोचूँगा। बड़े-बड़े मानसिक रोगों के वैद्यों से मिलकर इनके लिये किसी अचूक औषधि की खोज करूँगा। मुझे भी इनके ऊपर दया आ रही है। मैं अवश्य इनका उद्धार करूँगा।"

भक्ति ने कहा—"नारदजी ! मेरा भी ध्यान रखियेगा।"

नारदजी ने शीघ्रता से कहा—"साध्वि ! आप ऐसी बात न कहें, इस प्रकार दीनता न दिखावें आप कलियुग से भयभीत न हों। कलियुग और सबके प्रतिकूल भले ही पड़े आपका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। कलियुग में तो आपका ही प्रचार प्रसार होगा। तुम्हारे लिये यह युग बड़ा ही सुन्दर है। मैं घर घर में जन-जन में तुम्हारा प्रचार करूँगा। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में आपके प्रति आदर उत्पन्न करा दूँगा।"

भक्ति ने कहा—"नारदजी ! आप बहुधंधी हैं, आप पर तीन लोक चौदह भुवन के बहुत से कार्य रहते हैं, कहीं हमारी बात भूल मत जाना।" यह सुनकर नारदजी को रोष आ गया उन्होने हाथ में व्रजरज और यमुनाजल लेकर कहा—"देवि भक्ति ! यह वृन्दावन धाम है। यमुनाजी का पावन पुलिन है, मैं हाथ में व्रज-रज और यमुनाजल लेकर शपथपूर्वक कहता हूँ, कलिकाल में सर्वत्र में तुम्हारा प्रचार करूँगा। अन्य जितने पाखण्ड धर्म हैं,

बड़े परिश्रम से विपुल वस्तुओं से सिद्ध होने वाले कार्य हैं, उन सभी का तिरस्कार करके बड़े-बड़े महा महोत्सवों के सहित धूमधाम से मैं तुम्हारी महिमा बढ़ाऊँगा। घर-घर में कथा कीर्तन का प्रचार कराऊँगा, देश विदेश में हरिनाम संकीर्तन की धूम मचाऊँगा, सरल भाषा में सबके समझने योग्य रीति से भागवती कथाओं का प्रचार-प्रसार करूँगा, यदि मैं ऐसा न कर सका तो मैं अपने को हरिदास कहलाना छोड़ दूँगा। मैं तुम्हारा प्रचार न कर सका तो अपने नारद नाम को छोड़ दूँगा।"

भक्ति ने कहा—"देवर्षे! मैं आपके वचनों पर अविश्वास नहीं करती। आप ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं, आप सब कुछ करने में समर्थ हैं, किन्तु मुझे शङ्का है, कलियुग में वातावरण ही ऐसा है, कि प्रयत्न करने पर भी प्राणी पापों से बच नहीं सकता सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ही पापों में है। पापी प्रभु के पादपद्मों के पास पहुँच नहीं सकता, फिर आपके प्रयत्न का फल क्या होगा?"

नारदजी बोले—"देवि! कोई चिन्ता की बात नहीं। भूल चूक से किसी से पाप हो भी जाय, और फिर वह तुम्हारी शरण सच्चे हृदय से ले ले, तो उसके सभी पाप ताप जल जायँगे। कलिकाल में जिसके हृदय में भक्ति होगी, जिसे तुम कैसे भी अपना लोगी, वह चाहें कैसा भी पापी क्यों न रहा हो, निर्भय होकर श्रीकृष्ण धाम को चला जायगा। उन्हें नरक का द्वार कभी न देखना पड़ेगा। जिनके हृदय में प्रेम स्वरूपा तुम्हारा निवास है, जिन्हें कथा कीर्तन की बान पड़ गयी है, जो भक्ति भरित हृदय से रुदन करते हैं। आर्तस्वर से प्रभु को पुकारते हैं, ऐसे पुरुष पापी होने पर भी परम पावन बन जाते हैं, उन पवित्र मूर्ति पुरुषों की जाग्रत की तो कौन कहे स्वप्न में भी यमराज का द्वार नहीं देखना पड़ता। वे तुम्हारे प्रभाव से सीधे वैकुंठ को

जाते हैं। भक्ति युक्त पुरुष प्रतप्त लोह के समान हो जाता है, मल उसमें रह नहीं सकते। प्रेत, पिशाच, राक्षस, दैत्य तथा और भी यमदूत आदि उसका स्पर्श नहीं कर सकते।"

भक्ति ने कहा—"मुनिवर ! आपका कहना यथार्थ है, किन्तु भक्ति के साथ ही साथ तपस्या, व्रत, उपवास, कर्मकाण्ड योगाभ्यास आदि और भी तो चाहिये। भगवान को पाना कोई सरल काम नहीं।"

नारदजी ने कहा—"भगवान् क्या कष्ट सहने से ही प्रसन्न होते हैं। क्या अपने भक्तों को भूखा मारने से उनके शरीर को सुखाने से ही सुख होता है ? वे तो भावग्राही हैं। कोई कितनी भी तपस्या करता रहे जब तक उसके हृदय में भक्ति नहीं तब तक तप का मूल्य दो कौड़ी भी नहीं। उससे स्वर्ग भले ही मिल जाय, दूसरे पुण्यलोक भले ही प्राप्त हो जायँ, प्रभु-प्राप्ति असंभव है। कोई कितने ही शास्त्रों का भारी-से-भारी विद्वान क्यों न हो जाय, उसका शास्त्र-अर्थ और यश ही दे सकता है, भक्तिहीन शास्त्रज्ञानी चन्दन भार वाही खर के समान है। कोई कितना ही बड़ा ज्ञानी क्यों न हो भक्तिहीन ज्ञान किसी काम का नहीं। कोई कितना बड़ा कर्मकांडी क्यों न हो, उसके सकाम कर्म सभी बन्धन के कारण बन जाते हैं, जब तक वे भक्तिपूर्वक प्रभु के अर्पण न किये जायँ। भगवान् भक्ति के ही भूखे रहते हैं, उन्हें कोई तप, विद्या आदि साधनों से अपने वश में नहीं कर सकता। एकमात्र भक्ति के कच्चे धागे में ही वे विवश बनकर बँध जाते हैं। जिसने उन्हें पाया है केवल भक्ति से ही पाया है।"

भक्ति ने पूछा—"बिना पढ़े लिखे भक्ति कैसे आ जायगी ?"

नारदजी ने हँसकर कहा—"क्या सभी पढ़े लिखे भक्त बन जाते हैं ? या बिना पढ़े लिखे भक्ति कर ही नहीं सकते। भक्ति के लिये पढ़ना लिखना आवश्यक नहीं। व्रज की गोपिकायें

क्या पढ़ी लिखी थीं ? उन्होंने किस चटसार में शिक्षा पायी है ? किस महत् पुरुष की सेवा की थी ? केवल भक्ति के कारण ही वे विश्ववन्द्या बन गयीं । अपनी प्रेमाभक्ति अलौकिकी आसक्ति के कारण जगत् पूज्या हो गयीं ।',

भक्ति ने पूछा—"गोपियों की स्थिति कैसे हो ?"

नारदजी ने कहा—"यह एक जन्म के कर्मों से स्थिति प्राप्त नहीं होती । प्राणियों के सहस्रों जन्मों के शुभ कर्मों से भक्ति में प्रवृत्ति होती है । भक्ति सबको दुर्लभ हैं । कलियुग में तो भक्ति ही सार है । और साधन कलिकाल में दुष्कर है भक्ति से भगवान् शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं । भक्तों के लिये उनको कुछ भी अदेय नहीं । जो ज्ञान मानी हैं भक्ति का खंडन करते हैं, भक्तों का विरोध करते हैं वे बड़े संकट में पड़ जाते हैं । दुर्वासा मुनि को अपने तप का बड़ा अभिमान था । वे दूसरों को कुछ समझते ही नहीं थे । अपने बड़प्पन की ठसक में उन्होंने परमभक्त राजर्षि अम्बरीष का अपमान किया उन्हें शाप दिया, इससे भगवान् के चक्र सुदर्शन ने उन्हें खदेड़ा । वर्षों वे एक लोक से दूसरे लोक में मारे-मारे घूमते रहे । अंत में भक्त की शरण लेने पर ही उनका उद्धार हुआ । अतः देवि ! तुम्हारे समान प्रभु की प्रिया कोई नहीं ।"

भक्ति ने कहा—"नारदजी ! तुमने तो मेरी आवश्यकता से अधिक प्रशंसा करदी ।"

नारदजी ने कड़ककर कहा—"देवि ! मैं यथार्थ कहता हूँ बनावटी बातें नहीं बताता । मैं तो कहता हूँ काय क्लेश करने वाले बड़े-बड़े व्रत उपवासों की कोई आवश्यकता नहीं । देश विदेशों में तीर्थों की धूलि फाँकने की कोई आवश्यकता नहीं । योग आदि करके नेति धौती से शरीर सुखाने की कुछ भी आवश्यकता नहीं यज्ञ यागों में धन और समय व्यय करना

व्यर्थ है कोरी ज्ञानचर्चा करके- बुद्धि व्यायाम करना आवश्यक नहीं एकमात्र भक्ति से ही सब कुछ सिद्ध हो सकता है तुम्हारी शरण जाने पर ज्ञान वैराग्य मुक्ति स्वतः ही समीप आ जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवती भक्ति ने जब नारदजी द्वारा अपने माहात्म्य को सुना तो सचेत होकर पुलकित हो उठी उसका रोम-रोम खिल उठा उसके प्रत्येक अंग, प्रत्यंग पुष्ट हो गये। गद्गद् वाणी से वह नारदजी की स्तुति करती हुई कहने लगी—"नारदजी! तुम धन्य हो। मैं साधुओं का स्वभाव सुना ही करती थी किन्तु आज तो उसका प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया, मैं सत्संग की बड़ी प्रशंसा सुनती थी आज उसे स्वतः ही देख लिया। मैं तो समझती थी मुझे दुखी देखकर तुम असमंजस में पड़ जाओगे कि जब भक्ति की ही दुर्दशा है तो हम भक्तों को न जाने क्या दशा होगी? जो भक्ति स्वतः अपना उद्धार नहीं कर सकती। स्वयं इस प्रकार रोती चिल्लाती फिरती है। वह अपने आश्रित भक्तों का क्या भला करेगी, किन्तु अब पता चला, कि तुम्हारी तो मुझमें निश्चलाप्रीति है अडिग भक्ति है। तुमने अपने सदुपदेश से मेरे मानसिक दुःख को क्षण में ही दूर कर दिया, मेरी मानसिक व्यथा को बात की बात में शान्त कर दिया। मेरे संशयों को सदा के लिये छिन्न भिन्न कर दिया। मैं तुम्हें हृदय से आशीर्वाद देती हूँ, कि तुम्हारी ऐसी ही मुझमें अचला भक्ति बनी रहे। मैं तुम्हारे हृदय में सदा सर्वदा निवास करूँगी, कभी तुम्हारे हृदय को न छोड़ूँगी। आज तुमने अपनी करुणा कृपालुता का प्रत्यक्ष परिचय दे दिया। साधुता की सीमा दर्शा दी। मैं तो स्वस्थ तथा शोक रहित बन गयी। किन्तु मेरे ये दोनों पुत्र ज्ञान-वैराग्य अभी तक अचेतन ही पड़े हैं। इनके लिये भी कुछ उपाय कीजिये। इनको भी कुछ सदुपदेश दीजिये इनके भी दुःख को दूर करके जगत् में यश लीजिये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! भक्ति की ऐसी बात सुनकर परोपकार प्रिय नारदजी के हृदय में बड़ी दया आयी। उनका हृदय करुणा से भर गया। अब जिस प्रकार वे भक्ति के साथ ज्ञान वैराग्य को भी पुष्ट करने के निमित्त जो उपाय करेंगे उसका वर्णन मैं आप लोगों से आगे करूँगा। आप सब महर्षि गण इस पुण्य प्रसंग को प्रेमपूर्वक श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

कृष्णप्रिया तुम भक्ति भक्त भय भीति भगाओ।
पापी पामर पतित प्रेम तैं पार लगाओ॥
सुत तव ज्ञान विराग मुक्ति दासी प्रभु दीन्हीं।
जुग-जुग मँह सुख देउ किन्तु कलिकीरति कीन्हीं॥
सुनि मुनि बच अति प्रेममय, भक्ति मुदित अतिशय भई।
तजहुँ न तव हिय देव-ऋषि, गद्गद ह्वै आसिस दई॥

ज्ञान वैराग्य को जाग्रत करने का नारदजी का प्रयास

(६)

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥❀
(श्री भा० ११ स्क० २६ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

बोली मुनि तैं भक्ति—सुतनि उद्धार बताओ ।
होहिँ तुरत चैतन्य जुक्ति कछु अपर लगाओ ॥
गीता अरु वेदान्त सुनायो नहिँ ते जागे ।
करूँ कौन शुभ काज, ध्यान मुनि करिबे लागे ॥
गगन गिरा तिहि छिन भई, करो करम चिन्ता तजो ।
साधु बतावें जुक्ति शुभ, तातैं अब संतनि भजो ॥

सभी प्राणी स्वार्थ में निरत हैं। अपने स्वार्थ के अतिरिक्त संसारी लोग दूसरी बात सोच ही नहीं सकते। मैं ही सुखी रहूँ, मुझे ही संसार की सम्पत्ति मिले, मेरा ही घर भरे, मेरे ही आदमी सुख भोगें। उन्होंने मैं मेरी की जो परिधि बना ली है,

---

❀ श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! इस घोर संसार रूपी सागर में जो प्राणी तड़पते हुए बार-बार डूबते हैं बार-बार उतारते हैं, उनके लिये शान्त चित्त ब्रह्मवेत्ता साधुजन उसी प्रकार परम अवलम्ब हैं, जिस प्रकार जल में डूबते के लिये सुदृढ़ नौका ही सहारा है।"

उससे बाहर सोचने की उनमें शक्ति नहीं। मछली जल से बाहर जाने की कल्पना ही नहीं कर सकती। पक्षी आकाश में जितनी सीमा बना लेते हैं उससे बाहर जा नहीं सकते। मल का कीड़ा मल की परिधि में ही सोचेगा। इसी प्रकार संसारी लोग घूम फिर कर स्वार्थ की ही बात सोचेंगे। कोई परोपकारी साधु पुरुष यदि निस्वार्थ भाव से कोई कार्य करे भी तो संसारी लोगों को कभी भी उसका विश्वास न होगा, वे सोचेंगे—अवश्य इसमें इसका कोई बड़ा स्वार्थ है। यह बात उनके विचार के बाहर है कि कोई अपने निजी स्वार्थों को परित्याग करके केवल सर्व प्राणियों की निःस्वार्थ भाव से सेवा करेगा। इस स्वार्थ भावना के ही कारण यह संसार दुखालय बना है। लोग बिना बात के इन तुच्छ, अनित्य, क्षणभंगुर वस्तुओं में अपनापन स्थापित करके दुखी होते हैं. अपने को चिन्ता सागर में निमग्न बनाये रहते हैं। ऐसे संसार में परोपकारी अहैतुकी कृपा करने वाले निस्वार्थ सन्त न हों, तो यह संसार रौरव नरक से भी बढ़कर दुखदायी बन जाय, किन्तु सन्त ही आकर इस दुःखालय को सुखालय बनाते हैं, वे ही परोपकार की सुगंधि फैलाकर प्राणियों को शान्ति प्रदान करते हैं, वे ही प्राणियों के हित में निरत रहकर सबकी आखें खोलते हैं। सन्त सुख के स्तम्भ हैं, आनन्द के वितरक हैं, सुख के दाता हैं, दुखियों के त्राता हैं। सन्त ही मार्गदर्शक हैं। सन्त ही सब कुछ हैं, वे ही सर्वेश्वर के प्रतिनिधि हैं। इसीलिये तो सन्त भगवन्त में निरन्तर अन्तर नहीं बताया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दूसरों का दुःख दूर करना ही जिनका एकमात्र कार्य है वे सन्त-शिरोमणि नारदजी भक्ति देवी को सान्त्वना देकर उनके पुत्र ज्ञान वैराग्य की मूर्छा दूर करने का प्रयत्न करने लगे। वे अचेतन पड़े उन दोनों के समीप गये, उनके अंग को पकड़कर झकझोरा। अपने मुख को उनके कानों

के समीप ले गये और पूरी शक्ति लगाकर वे चिल्लाये—"अरे ज्ञान! ओ भैया! वैराग्य! अरे, उठो तो सही, बहुत देर सोते-सोते हो गयी, देखो, यह व्रज भूमि है, वृन्दावन है, सम्मुख तुम्हारी माता यह भक्ति खड़ी है तनिक आँखें खोलकर देखो तो सही।"

इतना चिल्लाने पर भी वे टस से मस नहीं हुए। न हिले न डुले, हाँ ना कुछ भी नहीं किया, दीर्घ निश्वास छोड़ते रहे।

तब तो नारदजी ने सोचा—"वेद में ज्ञान वैराग्य की चर्चा है सम्भव है उसे सुनकर ये उठ पड़े। अतः नारदजी ने सस्वर वेदपाठ आरम्भ किया। वेदपाठ की मधुर ध्वनि कर्ण कुहरों में पड़ते ही उनके शरीर में कुछ क्रिया होने लगी। वे कुछ हिलने डुलने लगे। तब तो नारदजी का उत्साह बढ़ा। उन्होंने सोचा—"वेदान्त में तो ज्ञान ही-ज्ञान भरा है, लाओ वेदान्त ही इन्हें सुनावें।" यह सोचकर वे वेदांत घोष करने लगे। इससे वे दोनों उठने का प्रयत्न करने लगे। अब नारदजी को आशा बँधी।"

उन्होंने फिर सोचा—"गीता में तो सभी वेदान्त उपनिषदों का सार है। उपनिषद् रूपी गैयाओं को भगवान् नन्दनन्दन ने पार्थ रूपी बछड़े की सहायता से दुहकर गीता रूपी अमृत को निकाला है। इससे ज्ञान वैराग्य की निद्रा अवश्य भंग होगी अतः नारदजी ने गीता पाठ प्रारम्भ किया। उसका परिणाम भी सुन्दर हुआ। ज्ञान वैराग्य दोनों बड़े कष्ट से उठकर बैठ गये। दुग्ध के झाग के समान, बगुलों की पंख के समान, कुन्द के कुण्डमल के समान, कास के पुष्प के समान, अपने शुभ्र स्वच्छ सफेद बालों को अस्त-व्यस्त भाव से हिलाते हुए जरा जीर्ण काया से सूखी लकड़ी के समान दुबले पतले वे दोनों आँखें मलते हुए उठकर बैठ तो गये किन्तु नारदजी ने जहाँ पाठ बन्द किया, तहाँ वे फिर से अचेतन होकर गिर पड़े।"

प्रतीत होता है, उन्हें पूरा आहार नहीं मिला था। इससे वे क्षुधा पिपासा से परम पीड़ित थे। उनमें चलने फिरने की शक्ति नहीं रही थी।

नारदजी को बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे सत्ययुग, त्रेता तथा द्वापर में तो ये लोग इन्हीं वेद वेदान्त के द्वारा पुष्ट बने रहते थे। किन्तु कलियुग आते ही इन्हें हो क्या गया है ये ज्ञान वैराग्य उठते क्यों नहीं। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ। कौन उपाय से इनका उद्धार होगा। कैसे इनकी यह चिरनिद्रा समाधि भंग होगी कैसे इनकी यह वृद्धावस्था दूर होगी। भगवान ही रक्षा करेंगे। वही सबके उर प्रेरक हैं। वे ही मुझे प्रेरणा देंगे उन्हीं की शरण जाने पर उपाय सूझ पड़ेगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"शौनकजी! ऐसा सोचकर नारदजी समस्त क्लेशों को हरण करने वाले भगवान् श्यामसुन्दर का ध्यान करने लगे। वे जिज्ञासु भाव से उनकी शरण में गये।"

उसी समय उन्हें सुस्पष्ट शब्दों में मेघ के समान निर्घोष करती हुई आकाशवाणी सुनायी दी। आकाशवाणी उन्हीं को लक्ष्य करके कह रही थी—"नारदजी! तुम चिन्ता को छोड़ दो। तुम्हारा मनोरथ परोपकार भावना से है अतः वह अवश्य ही सफल होगा। इसमें रंचकमात्र भी सन्देह नहीं है किन्तु इस कार्य की सिद्धि के निमित्त तुम्हें एक अत्यन्त ही शुभ कार्य का अनुष्ठान करना पड़ेगा।"

नारदजी ने हाथ जोड़कर पूछा—"जो कोई भी देव मुझे अव्यक्त रूप से अशरीरी वाणी में उपदेश दे रहे हैं उनसे मैं यह पूछना और चाहता हूँ कि वह शुभ कार्य कौन-सा है, मुझे किस कार्य के अनुष्ठान से मेरे मनोरथ की पूर्ति होगी?"

आकाशवाणी ने पुनः कहना आरम्भ किया—"उस शुभ कार्य का उपदेश तुम्हें साधु पुरुषों के भूषण स्वरूप सन्त जन ही

करेंगे। अब तुम सन्तों की ही शरण में जाओ। वे तुम्हें भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के उद्धारार्थ जो भी उपाय बतावें उसे सावधानी के साथ करना। उसके करते ही ज्ञान वैराग्य की निद्रा, तन्द्रा, वृद्धावस्था तुरन्त ही दूर हो जायगी और भक्ति देवी भी परम सन्तुष्ट हो जायगी तथा दशों दिशाओं में भक्ति का प्रसार हो जायगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारदजी को ही नहीं, वहाँ जो भी थे, सभी को यह आकाशवाणी सुस्पष्ट शब्दों में सुन्दरता के साथ सुनायी दी, किन्तु नारदजी के लिये यह एक पहेली-सी प्रतीत हुई। सोचने लगे—"मुझे अनुष्ठान करना पड़ेगा, कौन-सा अनुष्ठान करना पड़ेगा? उसका उपदेश सन्तजन देंगे, वे सन्त मुझे कहाँ मिलेंगे? कैसे मैं उन सन्तो को खोज निकालूँगा। बड़ा दुष्कर कर्म है। फिर भी मेरा व्रत परोपकार है, परोपकारी पुरुप को सदा कष्ट सहने ही पड़ते हैं, उन्हें पर पीड़ा निवारणार्थ देश विदेशों में मारे-मारे घूमना ही पड़ता है। मैं भी देश विदेश घूमूँगा, जो सन्त मुझे ज्ञान वैराग्य तथा भक्ति के उद्धारार्थ उपदेश देंगे उन्हें मैं खोज निकालूँगा, सभी साधुओं के आश्रमों पर जाऊँगा, सभी को यह सम्वाद सुनाऊँगा, सभी से उस शुभ कर्म के अनुष्ठान का प्रश्न करूँगा, कोई तो बतावेगा, कोई तो समझायेगा, कोई तो मेरे संशय को मिटायेंगे, कोई तो मुझे सत्य मार्ग दिखायेगा, कोई तो मेरा मनोरथ सफल बनायेगा, कोई तो अपने साधु नाम की सार्थकता दिखायेगा।" यह सोचकर नारद ज्ञान वैराग्य को वहीं अचेतन छोड़कर साधन पूछने के निमित्त कमण्डलु कर में दबाये निकल पड़े।"

वे जहाँ भी साधुओं का पता पाते वहीं दौड़े जाते। सबके चरणों में शीश नवाते, सभी को आकाशवाणी का सम्वाद सुनाते, अपना अभिप्राय जनाते और उस शुभ कर्म के अनुष्ठान

के सम्बन्ध में बताने की प्रार्थना करते। वे बड़ी-बड़ी पावन सरिताओं के तटों पर गये, सन्तों के आश्रमों में, कुटियाओं, वन, उपवनों में, ताल तलैया, सरोवर, वापी कूप, तड़ाग, आराम, तीर्थ तथा पुण्य क्षेत्रों में गये, पृथ्वी की तिल-तिल भूमि छान डाली। विक्षिप्त की भाँति वे घूमते ही रहते सभी से उसी एक को पूछते। सब सुनते और सभी अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ कह देते। कोई कहते—"नारदजी! ज्ञान वैराग्य तो स्वयं सबसे बड़े देवता हैं, उनका उद्धार किसी साधन से असंभव हैं।" कोई कहते—"नारदजी! हमारी बुद्धि में यह बात बैठती नहीं।" कोई कहते—"आकाशवाणी का गूढ़ रहस्य समझना हमारी बुद्धि के बाहर की बात है। कोई कहते—"नारदजी! आज तक तो हम सब आपको ही सन्त शिरोमणि समझते थे, हमें जो स्वयं शंका होती उसका समाधान आप से ही कराते थे, जब आप ही जिस बात को नहीं समझते, तो हम उसके सम्बन्ध में बता ही क्या सकते हैं?" कोई कहते—"अमुक ऋषि की बड़ी प्रशंसा सुनी है आप उनके पास जायँ।"

यह सुनकर नारदजी उनके समीप जाते, वे सुनकर मौन धारण कर लेते, हाथ के संकेत से हूँ हाँ कर देते। नारदजी कहते हैं—"महाराज! हम आपके संकेत को समझते नहीं लिख दीजिये।" तब वे चुप हो जाते हाँ, ना कुछ भी नहीं कहते। फिर दूसरे के पास जाते उन्होंने जहाँ सुना कि नारदजी हमसे अपनी शंका का समाधान कराने आने वाले हैं, तो दण्ड कमंडलु बगल में दबाकर दस पाँच दिन रॉमत करने निकल जाते। सोचते—"हम से उत्तर न बना तो लोगों में अवज्ञा होगी, कि प्रशंसा तो इतनी भारी थी, एक प्रश्न का उत्तर भी न दे सके।" नारदजी उनकी कुटिया को बन्द देखकर लौट आते फिर किसी का पता लगाते-लगाते आगे बढ़ जाते। इस प्रकार वे वृन्दावन,

मथुरा, सूकर क्षेत्र, ब्रह्मावर्त क्षेत्र, नैमिषारण्य, चित्रकूट, प्रयाग अयोध्या, काशी, वैद्यनाथ, गङ्गासागर, पुरी, नृसिंह क्षेत्र, गोदावरी, कावेरी, कांजीवरम्, चिदम्बरम्, श्रीरंगम्, कुम्भकोणम्, रामेश्वरम्, धनुषकोटि, दक्षिण मथुरा, तिरुपतिबालाजी, कृष्णा, तुङ्गभद्रा, नासिक, द्वारका, सोमनाथ, अवन्ती, पुष्कर क्षेत्र, इन्द्रप्रस्थ, आनन्दवन, हरिद्वार, तथा ऋषिकेश आदि तीर्थों में सरिताओं के पावन पुलिनों में घूमते रहे, किन्तु उनके प्रश्न का यथार्थ उत्तर किसी से भी प्राप्त नहीं हुआ। जब वे तीर्थों में घूमते घूमते श्रमित हो गये और अपने मनोरथ की सिद्धि न हुई, तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। उत्तराखण्ड के तपोवनों में बहुत से त्यागी विरागी सन्त तपस्या कर रहे थे, नारद जी ने उनसे भी अपना प्रश्न पूछा। ऋषिगण आपस में एक दूसरे से चर्चा करने लगे—"क्योंजी नारदजी ने ज्ञान वैराग्य को वेद, वेदान्त, गीता सुनाया, जब इन से भी उनकी प्रगाढ़ निद्रा नहीं टूटी, तो तुम्हीं सोचो और उपाय हो ही क्या सकता है। हमारे यहाँ तो ये ही प्रमाण हैं।"

कोई कहते—"जो उपाय परम योगी नारद को भी विदित नहीं उसे बताने का व्यर्थ प्रयास दूसरा कोई कर ही क्या सकता है। हम तो सोचते हैं—"नारदजी सबकी परीक्षा कर रहे हैं या भगवान् की कोई दूसरी ही लीला हो, बड़ों की बातें भी बड़ी ही होती हैं। हम लोग उसके रहस्य को समझ ही कैसे सकते हैं। हमारी दृष्टि में तो यह प्रश्न गूढ़ है। और यह अनुष्ठान अत्यन्त दुस्साध्य है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब नारदजी ने सबसे निराशा पूर्ण उत्तर पाया, तो उन्होंने सोचा—मैं सर्वत्र घूम तो आया ही, अपनी ओर से मैंने पूछने में प्रयत्न करने में कोई कोर कसर तो छोड़ी नहीं अब यहाँ उत्तराखंड में तो आ ही गया हूँ। चलूँ

श्रीमन्नारायण की विशालापुरी बदरीवन में चलकर घोर तपस्या करूँ, तपस्या से जब प्रभु प्रसन्न होंगे तो उन्हीं से अनुष्ठान या अनुष्ठान बताने वाले सन्त के सम्बन्ध में पूछूँगा।" ऐसा निश्चय करके वे योग के द्वारा आकाश मार्ग से बदरीवन में पहुँचे। उस समय मनुष्यों की पूजा थी। ६ महीने देवता पूजा करके चले गये थे। मनुष्य हिम के हट जाने से पूजा में संलग्न थे। वर्षा ऋतु थी। कार्तिक का महीना था नारदजी तपस्या के निश्चय से

सम्याप्रास की ओर बढ़ते चले जा रहे थे, तभी उन्हें नारद! नारद! कहकर किसी ने पुकारा फिर नारदजी ने जो देखा तो वे चकित हो गये, उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ करोड़ों सूर्यों का प्रकाश चार पुञ्जों में विभक्त होकर देदीप्यमान हो रहा है। सामने ही उन्हें अपने भाई ब्रह्माजी के आदि मानस पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन और सनतकुमार

दिखायी दिये। नारदजी ने उन्हें देखते ही दण्ड प्रणाम किया, अपना यह सम्पूर्ण वृत्तान्त उन्हें सुनाकर कहने लगे—"हे मुनीश्वर गण! मैं सम्पूर्ण पृथ्वी पर जिस साधन से ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति परिपुष्ट हो उसके लिये-घूम आया किन्तु किसी ने भी मुझे आज तक वह साधन नहीं बताया। मैं तो यहाँ तपस्या करने के उद्देश्य से आया था, महान् सौभाग्य से यहाँ आते ही आपके दर्शन हो गये। अब कृपा करके उस पुण्यप्रद साधन को आप मुझे बताइये।"

यह सुनकर हँसते हुए कुमारों ने कहा—"नारदजी! हम आपके साधन को कैसे जान सकते हैं?"

नारदजी ने कहा—"महानुभावो! संसार में ऐसी कोई बात नहीं जिसे आप न जानते हों आप महान् योगी हैं। भूत भविष्य और वर्तमान आपके सम्मुख हस्तामलक वत् हैं। आपने समस्त शास्त्रों का श्रवण मनन निदिध्यासन किया है। आप परमबुद्धिमान तथा तपस्वी हैं।"

कुमारों ने कहा—"नारद जी! हम तो पाँच-पाँच वर्ष के लड़के हैं।"

नारदजी बोले—"महाराज! देखने में तो आप बालकों से ही लगते हैं। किन्तु प्रजापतियों के भी आप पूजनीय हैं। सृष्टि में सबसे प्रथम आप उत्पन्न हुए हैं आप पूर्वजों के भी पूर्वज हैं। इसलिये अवस्था में भी सबसे श्रेष्ठ हैं। आप लौकिक पुरुष भी नहीं अविद्या से भी प्रथम आपकी उत्पत्ति है। अतः अविद्या आपके समीप भी नहीं फटक सकती। आप भगवान् के परमधाम वैकुण्ठ लोक में निवास करते हैं, इसलिये लोक के सुख दुःखों से सदा परे रहते हैं। संसारी विशेष बातें भी नहीं बोलते। सदा हरिनाम संकीर्तन में संलग्न रहते हैं। आपका आहार अन्न जल नहीं है। आप कृष्ण कथा के सहारे

ही जीवित रहते हैं। आपका जीवनाधार ही हरिचर्चा है। आप संसारी मादक द्रव्य का स्पर्श भी नहीं करते। आपको उस की आवश्यता ही प्रतीत नहीं होती। आप नित्य निरन्तर अतृप्त भाव से इतना हरिकथा मृत पान करते हैं कि उसके मद में सदा मदमाते बने रहते हैं कृष्णलीला--सुधा के पान से सदा उन्मत्त से बने रहते हैं। व्यर्थ की बकवाद से आप बचते रहते हैं। आपके मुख से पचाक्षरी (हरिः शरणम्) यह मन्त्र निरन्तर निकलता रहता है। इसीलिये सदा आप पाँच वर्ष के कुमार बने रहते हैं। वृद्धावस्था तो काल के प्रभाव से होती है। आप तो कालातीत हैं। इसीलिये वृद्धावस्था को विवशता आपको बाधा नहीं पहुँचा सकती।

आप कहें कि हम कुछ करने में असमर्थ हैं सो भी बात नहीं आप सब कुछ कर सकते हैं। मनुष्य, यक्ष, राक्षस, देव, गुह्यक, पिशाच तथा अन्यदेव उपदेवों की तो बात ही क्या साक्षात् वैकुण्ठताधिपति भगवान् विष्णु के प्रिय पार्षद जय विजय तक को भी आपने हतप्रभ बना दिया। वे आपके भ्रूभङ्ग मात्र से ही पृथ्वी पर आकर राक्षस हो गये और आप की ही कृपा से उनका पुनः उद्धार हुआ उन्हें उनका पूर्व पद प्राप्त हो गया। भाग्यवश ही मुझे अकस्मात् यहाँ आपके दर्शन मिल गये। इसलिये आप टाल मटोल न करें। मुझ दीन पर दया करें। अनुचर पर अविलम्ब अनुग्रह करें।"

कुमारों ने पूछा—"तुम्हारा अभिप्राय क्या है ? जानना क्या चाहते हो ?"

नारदजी ने कहा—"प्रथम तो आप मुझे आकाशवाणी का अभिप्राय समझावें, उसके बताये गूढ़ साधन का अर्थ बतावें ? फिर उसकी विधि का उपदेश दें। यह साधन कैसे करना चाहिये, कब करना चाहिये, इन सबका सुस्पष्ट शब्दों में

विस्तार के साथ वर्णन कीजिये। दूसरी बात यह कि उस साधन से भक्ति, ज्ञान और वैराग्य तीनों को ही सुख हो। ऐसा न हो कि भक्ति के अहंकार में ज्ञान वैराग्य से कोरे रह जायँ, केवल करताल ही खटखटाते रहें। अथवा ज्ञान के अभिमान में भक्ति का निरादर करें उसे मूर्खों का अबलाओं का ही साधन बतावें। या वैराग्य की झोंक में ज्ञान भक्ति सभी को तिलांजलि दे दें। दिगम्बर बनकर अभिमान को ही बढ़ाते रहें। उपाय ऐसा हो, जिससे तीनों का ही यथा स्थान समुचित आदर हो।

तीसरी बात यह है, कि वह साधन सभी समय सभी वर्ण के साधकों को सुलभ हो। जैसे वैदिक कर्मकांड है उसका अधिकार केवल द्विजाति मात्र को है। संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मण मात्र को ही है। यह साधन ऐसा हो, जिसका प्रचार सभी वर्णों में सभी आश्रमों में हो सकें। ब्राह्मण को भी वह साधन तार दे और शूद्र का भी उद्धार कर दे। सर्वसाधारण के लिये सुलभ साधन का आप उपदेश करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारदजी के इन प्रश्नों का कुमार गण जैसे उत्तर देंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा, आप सब समाहित चित्त से इस प्रसंग को श्रवण करें।"

छप्पय

नभ-बानी सुनि चले देव-ऋषि संतनि खोजन।
तीरथ तीरथ फिरे सरित वन उपवन पावन॥
सबतैं पूछे प्रश्न किन्तु उत्तर नहिं पाये।
श्रमित दुखित अति भये करन तप बदरी आये॥
तहँ मिले सनकादि मुनि, समाचार पग परि कह्यो।
पर-उपकारक प्रश्न सुनि, ब्रह्म सुतनि हिय खिलि गयो॥

—०—

भागवती कथा ही सर्वोपयोगी सुगम साधन है

[७]

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियम्
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतम्
तच्छृण्वन् विपठन्विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥*
(श्री भा० १२ स्क० १३ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

सनकादिक मुनि कहें—व्यरथ नारद ! घबराओ।
साधन अति सुख साध्य श्रवन करि सबनि सुनाओ॥
एक भागवत कथा सुगम पथ ऋषि मुनि सेवें।
अन्य सकल श्रम साध्य अन्त में स्वरगहिँ देवें॥
सुनत भागवत भक्ति दुख, सुतनि संग नसि जायँगे।
पावैं प्रानी परम पद, सब जन अति हरषायँगे॥

---

* श्री सूतजी कह रहे हैं"—मुनियो ! श्रीमद्भागवत पुराण सभी प्रकार के मलों से रहित है, यह विष्णुभक्तों का सबसे प्यारा धन है, इसमें परमहंसों द्वारा प्राप्त विशुद्ध परज्ञान का गान किया गया है। इसमें एक ऐसे त्याग धर्म का आविष्कार किया गया है जो भक्ति, ज्ञान और वैराग्य से युक्त है। इसका जो भक्तिभाव से श्रवण करते हैं, पाठ करते हैं अथवा मनन करते हैं वे संसार बन्धन से छूट जाते हैं।"

सुगम साधन वही है जिसमें सबका सरलता सुगमता से शास्त्रीय विधान से सरसता के साथ समावेश हो जाय। कुछ वस्तुयें तो ऐसी हैं, जो एक व्यक्ति विशेष को या वर्ग विशेष को प्रिय होती हैं, कुछ वस्तुयें ऐसी हैं जो प्रायः सभी को समान भाव से प्रिय होती हैं। सर्वसम्मत-सर्वोपयोगी-सर्वजनप्रिय वस्तु में ही सब सम्मिलित हो सकते हैं। हँसना मुसकाना मानव मात्र को प्रिय है इसीलिये हँसमुख सभी का प्रिय हो जाता है। गम्भीरता का भी एक विशिष्ट स्थान है किन्तु वह सर्वत्र सब समय नहीं, विशेष-विशेष अवसरों पर। परन्तु मनःप्रसाद तो सर्वप्रिय वस्तु है। सूखे सत्तू पेट भरने को तो अच्छे ही हैं, सब उन्हें निगल भी नहीं सकते, किन्तु घृत से चूता हुआ मोहनभोग हो, रबड़ी हो, रसगुल्ले हों, पेड़े हों इनकी पंक्ति हो तो देखिये आनन्द, चारों ओर लाओ-लाओ ही मच जायगा। भगवान् की लीला कथायें ऐसी ही मधुर-मधुर मिठाइयाँ हैं, जिनसे पेट भले ही भर जाय, मन नहीं भरता, खाने की इच्छा बनी ही रहती है और सबकी रसना सुख पाती है जिह्वा भी द्रवित होकर पानी बहाने लगती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारदजी के प्रश्न सुनकर चारों कुमार बड़े ही प्रसन्न हुए। परोपकार के निमित्त नारदजी की ऐसी चिन्ता, ऐसी उत्सुकता ऐसी तन्मयता तथा ऐसी लगन देखकर उन्हें अपार आनन्द हुआ। वे हँसते हुए नारदजी से कहने लगे—"अब चिन्ता करने का काम नहीं। आपकी इच्छा पूर्ण होगी। ज्ञान वैराग्य की निद्रा टूट जायगी, उन्हें पुनः युवावस्था प्राप्त होगी, भक्ति को भी अपार सुख मिलेगा, अब आप प्रसन्न हो जाइये, हमसे हँसकर बातें कीजिये।"

नारदजी ने कहा—"महाराज! किसी नये उपाय का आविष्कार कीजिये।"

कुमारों ने कहा—"आविष्कार क्या करना। आविष्कार तो हुआ हुवाया धरा है। उनके उद्धार का सुगम साध्य साधन तो पूर्व से ही विद्यमान है। तुम भी उसे जानते हो, केवल तुम्हें स्मरण भर कराना है। जानते हुए भी आप अनजान की भाँति भूमंडल पर भ्रमण कर रहे हो। अत्यन्त चिन्तित दुखित और श्रमित बन रहे हो तुम्हारी इस व्यग्रता से हमें अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई। अपने शरीर सुख के लिये पुत्र परिवार और प्रतिष्ठा के लिये तो सभी संसारी व्यग्र रहते हैं, किन्तु दूसरों के लिये परोपकार के लिये प्राणियों के कल्याण के निमित्त तो कोई विरक्त, संतजन, योगी तथा ज्ञानी ही प्रयास करते हैं। आप से बढ़कर संसार में विरक्त कौन होगा, विरक्त ही नहीं आप विरक्तों के मुकुटमणि हैं, फिर भी परोपकार भावना से आसक्त से बने हुए हैं। आप परम भगवत् भक्त हरिदास ही नहीं समस्त भक्तों के भव्य भूषण तथा अच्युत आराधक अकिंचनों के अग्रगण्य हैं। योगमार्ग के भास्कर हैं। योगिराज तथा योग के प्रवर्तक हैं, आपके मन में ऐसी चिन्ता होना, इतनी व्यग्रता आना स्वाभाविक है। साधु पुरुष प्रायः पराये ताप से तपते रहते हैं। साधुओं का हृदय नवनीत के समान कोमल स्निग्ध तथा स्वच्छ होता है नवनीत तो अपने ही ताप से द्रवित होता है, किन्तु साधुओं का हृदय तो पराये ताप से पिघला करता है। वैष्णव की यही तो पहिचान है। परायी पीर को जानने वाला ही यथार्थ में वैष्णव है। भगवत् भक्त कहाकर जो भक्ति को स्थापना नहीं करता। वैष्णव होकर स्वयं कथा कीर्तन नहीं करता तथा दूसरों को अपने आचरण, व्यवहार, कथन तथा प्रवचन से प्रेरित नहीं करता वह वैष्णव कैसा ? इसीलिये सदा से त्यागी, विरागी, विरक्त वैष्णव तथा संतजन लोक कल्याण के लिये प्रभु-प्राप्ति के विविध उपाय प्रकट करते हैं,

जितने तत्ववेत्ता ऋषि हुए हैं उन सबने देश, काल तथा पात्र भेद से बहुत से मार्ग प्रकट किये हैं। कोई किस युग में अनुकूल पड़ता है, कोई किसी को अनुकूल पड़ता है, उन सब में कामना पूर्ति की प्रधानता दी गयी है। पुत्र की कामना हो अमुक यज्ञ करो, शत्रु को मारना हो अमुक अनुष्ठान करो, किसी को वश में करना हो, अमुक मन्त्र का इतना जप करो। इन सभी सकाम साधनों में पग-पग पर विधि निषेध पर ध्यान रखा जाता है, विधि में तनिक-सी भी त्रुटि हुई तो कार्य सिद्ध होने की बात तो कौन कहे, उसके प्रतिकूल फल होता है। बड़े कष्ट करके चिर-संयम के साथ वह कार्य सिद्ध हुआ भी तो उसका फल क्या हुआ, संसारी कामना। पुत्र मिल गया, शत्रु का नाश हो गया, कुछ काल के लिये स्वर्ग मिल गया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सनकादि इतने ज्ञानी मुनियों ने इन अन्य साधनों को इतना तुच्छ क्यों बताया? मारण, मोहन उच्चाटन तथा वशीकरण आदि साधन भी तो वैदिक हैं। ऋषियों ने ही तो इनका साक्षात्कार किया है। फिर इन्हें इतना हेय क्यों कहा गया है?"

सूतजी बोले—"महाराज! वेद तो त्रैगुण्य विषय है उस में सात्त्विक राजस् तथा तामस सभी प्रकार के साधन हैं। तामसी पुरुषों को ये साधन भले ही उपयोगी हों, किन्तु जो प्रभु को पाना चाहते हैं जिनका लक्ष्य विशुद्ध भगवद् भक्ति है उन्हें तो इन सकाम कर्मों से बचना ही चाहिये। क्रोध लोभ से वशीभूत होकर बड़े कष्ट से ये कार्य किये जाते हैं और इनसे फिर विषय ही मिलते हैं। राजा की बहुत दिन कष्ट सहकर सेवा की जब वह प्रसन्न हुआ और कुछ माँगने को कहा तो माँगा यही मुझे कोठार की भूसी मिल जाय या घोड़ों के नीचे छिटके दानों को समेट के ले जाने की आज्ञा हो जाय। साधन तो वही

यथार्थ साधन है जिससे प्रभु के पादपद्मों में प्रेम हो। सकाम घोर साधनों में तो श्रम-ही-श्रम है उनमें कुछ हाथ लगता नहीं। इस विषय में एक छोटा-सा दृष्टान्त है।"

एक आदमी अपनी स्त्री से क्रुद्ध हो गया। उसने कहा—"मैं तो तपस्या करूँगा घोर वन में जाकर कठिन तपस्या करने लगा। उसके एक ही पुत्र था उसने पिता को तपस्या में संलग्न देखा तो वह भी उसकी देखा देखी तप करने लगा। जब देवता प्रकट हुए और वर माँगने को कहा तो उसने वर माँगा मेरी स्त्री मर जाय वह मुझे बहुत क्लेश देती है। देवता ने कहा—"ऐसा ही होगा।" उसकी स्त्री मर गयी।"

फिर देवता ने पुत्र के समीप जाकर उससे भी वर माँगने को कहा, लड़के ने पूछा—"मेरे पिता ने क्या वर माँगा है?" देवता ने बताया अरे, उसने तेरी माँ के मरने का वर माँगा था मैंने उसे मार दिया तू मातृहीन हो गया अब तू भी कुछ माँग ले।"

उसने कहा—"महाराज! मुझे यही वर दीजिये मेरी माता जीवित हो जाय।" देवता तथास्तु कहकर अन्तर्धान हो गये। दोनों बाप बेटे घर आये। घर जैसा का तैसा था वही स्त्री वही कलह। इतने दिन की तपस्या व्यर्थ ही हुई। सो, महाराज सकाम कर्म भोगों से दुखित होकर किये जाते हैं उनसे भोग ही मिलते हैं। कल्याण की कामना करने वाले को ऐसे काम्य कुत्सित कर्मों में काल को न गँवाना चाहिये।

एक वृद्ध पुरुष थे उन्हें एक ऐसा मन्त्र आता था कि जो भी उनके सम्मुख उच्च आसन पर बैठे उसकी पगड़ी गिर जाय! एक दूसरे साधक आये उन्होंने जब ऐसा चमत्कार देखा तो बड़े प्रभावित हुए। उनसे उस मंत्र को सीखने की उसने भी जिज्ञासा की। वृद्ध ने बताया अमुक मंत्र को आधी रात में श्मशान में जाकर इतने दिनों तक सहस्र संख्या में जपो।"

वह मंत्र लेकर रात्रि में श्मशान में जाता मंत्र को जपता रहता। एक दिन उसके मन में यह बात आयी कि इतना परिश्रम करने पर मान लो मंत्र सिद्ध भी हो गया, तो दूसरों की पगड़ी गिराने से मुझे लाभ ही क्या होगा, केवल अभिमान ही और बढ़ेगा।" यह सोचकर उसने मंत्र जपना छोड़ दिया। उस वृद्ध ने एक दिन आकर पूछा—"क्या तुम मंत्र जपते हो अभी तक कोई देवता प्रकट तो नहीं हुआ ?"

उस साधक ने अपने मन की बात वृद्ध से कही यह सुनकर वृद्ध बड़ा प्रभावित हुआ। उसने साधक को हृदय से लगा लिया अन्त में उसने भी इस कार्य को छोड़ दिया। सो, शौनकजी! ये क्षुद्र सिद्धि के सकाम कर्म भगवत् भक्ति में बाधक ही हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप सत्य कहते हैं यथार्थ कर्म तो वही है जो भगवन् भक्ति को बढ़ावे, हाँ तो फिर कुमारों ने क्या कहा ?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज सुनिये, सनकादि जी नारदजी से कह रहे हैं—"नारद! क्षुद्र साधनों को बताने वाले आकर्षक चमत्कार दिखाकर भोले-भाले लोगों को प्रभावित करने वाले व्यापारी उपदेशक तो बहुत मिल जाते हैं, किन्तु वैकुण्ठ के मार्ग को दिखाने वाला प्रभुपादपद्मों तक पहुँचाने वाला मार्ग तो गुप्त ही है। उसका उपदेश देने वाले पुरुष तो पूर्वजन्म के पुरातन पुण्य से कहीं से विरले ही मिलते हैं। जो विशुद्ध धर्म का उपदेश देने में समर्थ हों।"

नारदजी ने कहा—"हाँ, तो भगवन्! आकाशवाणी ने भक्ति ज्ञान तथा वैराग्य के उद्धार के निमित्त मुझे जिस सत्कर्म को करने का उपदेश दिया वह कर्म कौन-सा है, कृपा कर उसी का उपदेश मुझे दीजिये।"

सनकादि मुनि बोले—"ऋषिवर! अब हम उसी कर्म को तो

बना रहे हैं। इसी से तो भगवत् भक्ति का घर-घर प्रचार प्रसार होगा। आप समाहित चित्त होकर प्रसन्नता पूर्वक प्रेम से श्रवण करें।"

देखो, साधन कहो, यज्ञ कहो एक ही बात है। नाना द्रव्यों द्वारा यज्ञ में आहुति देना यह द्रव्य यज्ञ कहाता है, विविध भाँति से काया को क्लेश पहुँचाना, उपवास, व्रत, जल में खड़े रहना, पंचाग्नि तापना, एक पैर से खड़े रहना नंगे रहना केश नख न कटाना आदि विविध प्रकार से शरीर को तपाने का नाम तपोयज्ञ है विविध भाँति की योग सम्बन्धी क्रियाओं के अभ्यास को योगयज्ञ कहते हैं। मन्त्रों के जप पुनः-पुनः पठन को स्वाध्याय बताया है उस स्वाध्याय रूप ज्ञान यज्ञ से भी सकाम करने से स्वर्गादि लोकों की ही प्राप्ति होती है। उपर्युक्त सभी यज्ञ श्रेष्ठ लोकों में ले जाने के साधन मात्र कहे गये हैं। एक श्रीमद्भागवत पारायण रूप ज्ञान यज्ञ को यथार्थ सत्कर्म कहा गया है।"

नारदजी पूछा —"भगवन्! कौन-सा श्रीमद्भागवत पारायण रूप ज्ञान यज्ञ है। उसका कथन किन महर्षियों ने किया है?"

सनकादि महर्षियों ने कहा—"नारद! तुम भूल गये क्या? अरे, तुमने ही ब्रह्माजी से श्रीमद्भागवत का प्रश्न किया था। अत्यंत संक्षेप में श्रीमन्नारायण के मुख से सुना वह ज्ञान ब्रह्माजी ने तुम्हें बताया। तुमने भी इसी बदरीवन में विषाद में बैठे व्यास जी को सुनाया था। व्यास ने उसे विस्तार पूर्वक बनाकर अपने पुत्र शुकदेव को पढ़ाया। महर्षि शुक के द्वारा ही भूमण्डल पर इसका प्रचार हुआ। उसे सर्वसाधारण लोग जानते नहीं। यह अत्यन्त गुप्त अत्यन्त प्रभावयुक्त मोक्षमार्ग को दर्शाने वाला शास्त्र है। उस श्रीमद्भागवत का शब्द भक्ति देवी के कर्ण कुहरों में पड़ जाय। ज्ञान वैराग्य उसका श्रवण कर लें, तीनों ही खिल उठें, तीनों का शरीर परिपुष्ट हो जाय, तीनों को ही असीम बल

की प्राप्ति हो जाय। ज्ञान वैराग्य का तो समस्त क्लेश मिट जायगा, उनका पोपला मुख सभी दाँतों से युक्त होकर सूर्य के समान चमने लगेगा। केश कृष्ण वर्ण के हो जायँगे, वली पलित शरार सुन्दर सुहावना दर्शनीय हो जायगा और भक्ति देवी को इतना आनन्द होगा, कि वह नृत्य करने लगेगी प्रेम में पगली बनकर झूमने लगेगी।"

नारदजी ने कहा—"महाराज, कलियुग तो बड़ा पापी है, उसने सभी आचार-विचार शुभ कर्म साधन नष्ट कर दिये हैं उसके दोष तो विघ्न न कर देंगे।"

गर्ज कर सनकादि मुनि बोले—"नारद ! तुम कैसी बातें कर रहे हो। देखो, पापी के पैर नहीं होते जो डरता है उसी को कलियुग और भी अधिक डराता है। गाँव में हल्ला होता है, भेड़िया आया भेड़िया आया। जो शब्द सुनकर डरकर घर में छिप जाता है, उसी के बच्चों को भेड़ बकरियों को भेड़िया उठा ले जाता है, किन्तु जो साहस करके लट्ठ लेकर द्वार पर खड़ा हो जाता है, वहाँ से भेड़िया खिसक जाता है। कितने भेड़िये एकत्रित क्यों न हो जायँ, जहाँ सिंह ने गर्जना की, कि सब-के-सब भाग जाते हैं, सब नौ दो ग्यारह हो जाते हैं ! इसी प्रकार जहाँ श्रीमद्भागवत की दहाड़ हुई कि ये सबके सब कलियुग के दोष पलायन पारायण बन जाते हैं सब भाग जाते हैं। उस समय ज्ञान वैराग्य से संयुक्त भक्ति परम प्रमुदित होकर उछलने-कूदने लगती है, प्रेम रस के प्रवाह से प्रवाहित होकर सभी को प्लावित करती है। प्राणी मात्र को उससे आप्यायन होता है। तुम यदि श्रीमद्भागवत पारायण रूप यज्ञ के परम कल्याण प्रद अनुष्ठान को करोगे तो भक्ति को अत्यन्त ही आनन्द होगा, वह जन-जन के मन में आह्लाद को भर देगी, सबके अन्तःकरण को प्रफुल्लित कर देगी सबके हृदय में सुख का संचार करेगी,

घर-घर में विचरण करेगी, सर्वत्र उसका प्रचार-प्रसार हो जायगा।"

नारदजी ने कहा—"मुनियो! मुझे इस विषय में एक शंका है, आज्ञा हो तो उसको मैं प्रकट करूँ, मुझे आप श्रद्धाहीन न समझें।"

मुनियों ने कहा—"नहीं नारदजी! श्रद्धाहीन समझने की क्या बात है, शंका का तो समाधान करा ही लेना चाहिये, आप अपनी शंका को निर्भय होकर प्रकट करें।"

नारदजी ने पूछा—"भगवन्! मैं पूछना यह चाहता हूँ कि इस श्रीमद्भागवत की उत्पत्ति कहाँ से हुई?"

मुनियों ने कहा—"श्रीमद्भागवत वेद वेदान्त का सार समस्त उपनिषद्, ब्रह्म सूत्र, महाभारतादि इतिहास पुरा शास्त्रों का सार लेकर यह अमूल्य ग्रन्थ बना है। समस्त शा रूप समुद्र को मथकर यह श्रीमद्भागवतामृत निकला है।"

नारदजी ने इस पर कहा—"हाँ, तो भगवन्! मेरी शं यही है, कि मिट्टी का बना घड़ा मिट्टी ही होगा, सुवर्ण का ब आभूषण सुवर्ण ही होगा, हिम की बनी पुतली हिम ही होगी नमक का बना गोला नमक ही होगा, जो गुड़, मिट्टी, सुव हिम अथवा नमक में है वही गुण उनके द्वारा निर्मित घड़ आभूषण, पुतली और गोले में भी होना चाहिये। जो प्रभ वेद वेदान्त तथा अन्य सभी शास्त्रों का हो वही उनसे निक श्रीमद्भागवत में भी होना चाहिये। मैंने ज्ञान वैराग्य त भक्ति को वेद वेदान्त उच्च स्वर से सुनाया, समस्त गीता स्पष्ट स्वर में पाठ सुनाया यह सब सुनकर भी भक्ति सहित ज्ञा वैराग्य नहीं उठे, फिर श्रीमद्भागवत की कथा उन्हें कैसे जाग्र कर सकती है। भागवत के प्रत्येक पद में, प्रत्येक श्लोक में वे वेदान्त का ही तो भाव भरा है। वेद से विरुद्ध एक भी श

नहीं। भागवत तो ब्रह्मसूत्र का अर्थ, वेद माता गायत्री का भाष्य, सम्पूर्ण उपनिषदों का सार है। जो गुण उनमें वही भागवत में। यही मेरी शंका है मैं स्वार्थवश दीन हो गया हूँ आप दीनदयालु हैं शरणागतवत्सल हैं, अमोघदर्शन हैं आपका दर्शन व्यर्थ नहीं जाता आपके समीप से कोई निराश नहीं लौटता कृपा करके मेरी इस शंका को समूल नष्ट कर दें।"

यह सुनकर चारों कुमार खिल खिलाकर हँस पड़े और बोले—"नारद! हम समझ गये, आप लोक कल्याण के लिये यह प्रश्न कर रहे हैं, आप हमारे मुख से श्रीमद्भागवत का महत्व प्रकट कराना चाहते हैं, तभी तो ऐसी विचित्र शंका कर रहे हैं। अच्छा हम आपसे पूछते हैं, आम अथवा कोई फल कहाँ से प्रकट होता है?"

नारदजी ने कहा—"महाराज! सभी फल अपने-अपने वृक्षों से उत्पन्न होते हैं। आम का फल भी आम के पेड़ से पैदा होता है, पकता है, पकने पर रस होता है, सभी खाते हैं।"

सनकादिकों ने पूछा—"रस उसमें कहाँ से लाकर भरा जाता है?"

नारदजी ने कहा—"महाराज! रस कहीं बाहर से लाकर थोड़े ही भरा जाता है, वृक्ष की जड़ से लेकर चोटी पर्यन्त उसमें रस व्याप्त है वही रस फल में भर जाता है।"

सनकादिकों ने कहा—"हाँ, यही बात हम आपके मुख से कहलाना चाहते थे। जब आम का रस पेड़ से ही हुआ है तो जो पेड़ के रस का स्वाद होगा वही उसके फल का भी स्वाद होना चाहिये। आप आम के फल के रस को न चूस कर उसकी पत्ती के उसकी डाल के रस को चखिये देखिये उसमें कैसा स्वाद होगा।"

नारदजी ने कहा—"महाराज! आम के पेड़ का दूसरा

स्वाद है आम के फल का दूसरा स्वाद है। इन दोनों के गुण में, स्वाद में, रंग रूप में सभी में अन्तर है ?"

कुमारों ने कहा—"जैसे पेड़ से ही उत्पन्न फल के रस का दूसरा स्वाद है और पेड़ में व्याप्त रस का दूसरा स्वाद है, इसी प्रकार भागवती कथा, वेद, वेदान्त, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि के अर्थ से उत्पन्न हुई है, किन्तु इसका फल इनसे विलक्षण ही होता है। यह दृष्टान्त तो हमने आपको समझाने को दिया। इसी प्रकार के और भी दृष्टान्त ले लीजिये। जैसे घृत दूध से ही तो उत्पन्न होता है, किन्तु जब दूध को जमा कर उसे मथ कर उससे पृथक कर लिया जाता है तो उसका स्वाद, गुण, रंग रूप सब दूध से पृथक् होता है, दूध कितना भी पी लीजिये उसमें घृत का स्वाद नहीं आवेगा। दूध की आहुति घृत के स्थान में नहीं दी जा सकती। घृत को ही अमृत बताया। देवताओं को घृत ही प्रिय है। मिश्री ईख से ही बनती है, उसमें ईख के रस के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं। किन्तु ईख के रस का दूसरा स्वाद है, मिश्री की बात तो पूछना ही क्या जहाँ मुँह में डाली की अपने आप मीठा-मीठा रस चूने लगता है उस मिठाई का स्वाद तो खाने वाले को ही मिलता है। वैद्य कह दे अमुक रोगी को मिश्री देना आप उसके सामने ईख लाकर रख दो, रोग घटने के स्थान में और बढ़ जायगा। ईख यद्यपि मिश्री की जननी है किन्तु जननी होने से ही क्या हुआ, गुण तो दोनों के पृथक्-पृथक् हैं।"

आपने मिट्टी, सुवर्ण, हिम और नमक का दृष्टान्त दिया उनका भी गुण पृथक् है। यद्यपि गीली मिट्टी से ही घड़ा बनता है, घड़े में मिट्टी के अतिरिक्त दूसरी कोई भी वस्तु नहीं फिर भी गीली मिट्टी में पानी भर के तो नहीं आ सकता। पानी तो घड़े में ही आवेगा। गीली मिट्टी के ही हाथी, घोड़ा, ऊँट, बछेड़ा

आदि खिलौने बनते हैं। आप बच्चे को खिलौने न देकर गीली मिट्टी दे दें कि ले इससे खेल इन्हीं से सब खिलौने बनते हैं, क्या वह उनसे सन्तुष्ट हो जायगा ? राजा का मुकुट सुवर्ण का ही बनता है। मुकुट न पहिनकर वह पांच सेर सोना सिर पर लादले तो कोई उसे मुकुट धारी राजा कहेगा। स्त्रियों के आभूपण सुवर्ण के होते हैं, उन्हें आभूपण न देकर खान से निकले सुवर्ण के टुकड़े कर करके उसके अंगों में लटका दो तो क्या उसकी शोभा बढ़ेगी ? बहुत-सी ओपधियाँ सुवर्ण से ही बनती हैं, सुवर्ण की भस्म करके रोगी को दी जाती है भस्म न देकर आप उसे सूखा सुवर्ण ही खिला दें तो क्या रोग जायगा ? हलुआ घृत, चीनी और अन्न के चूर्ण से ही बनता है। आप हलुआ न बनाकर पहिले घृत पिला दें, ऊपर से चीनी पानी में घोलकर पिला दें फिर आटा फँकवा दें तो क्या इनमें हलुआ का स्वाद आ जायगा ? हिम तो जल से ही बनता है। ग्रीष्म ऋतु में हिम से शीतल न करके केवल तालाब का गरम जल पिलादें तो उसमें हिम की शीतलता उतना स्वाद आवेगा ? वैसी तृप्ति होगी ?"

सनकादि मुनि कह रहे हैं—"नारदजी ! चाहे वस्तु उसी से उत्पन्न क्यों न हो, उस वस्तु के अतिरिक्त उसमें चाहे कुछ भी अन्य वस्तु न हो, किन्तु पृथक् हो जाने से गुण में स्वभाव में प्रभाव में अन्तर पड़ ही जाता है। पुत्र तो पिता की आत्मा है, उसके शरीर से ही पैदा हुआ है, फिर भी पिता पुत्र एक गुण, स्वभाव तथा प्रभाव के नहीं होते। इसी प्रकार भागवती कथा भी वेद वेदान्त से निकली है, किन्तु उसके फल में और वेदों के फल में बड़ा अन्तर है। यह सत्य है, वृक्ष न हों तो फल हो ही नहीं सकते, किन्तु वृक्ष के रस से उसके फल का रस अधिक मधुर, अधिक गुणकारक अधिक उपयोगी तथा हृदय को प्रिय

वाला होता है। इसी प्रकार वेद वेदान्त की अपेक्षा यह भागवती कथा अधिक मधुर और विशेष फल देने वाली है।"

नारदजी ने पूछा—"तो क्या भगवन्! यह वेदों से सर्व पृथक् है?"

सनकादिकों ने कहा—"अजी, नारदजी! आप क्या जान नहीं, ऐसी भोली-भोली बातें क्यों कर रहे हो। भागवत वेदों ही समान है। जो प्रभाव जो आदर जो प्रतिष्ठा वेदों की है व इसकी है, इसका प्रकाशन, प्रयणन ही भक्ति ज्ञान और वैरा की स्थापना के निमित्त हुआ है। कलियुग में इसका प्राकट्य ध की स्थापना के निमित्त है। यह भगवान् का वाङ्मय अवता ही है। श्रीकृष्ण में और श्रीमद् भागवती कथा में कोई अन्त हो नहीं। तुमने ही तो इसका प्रचार किया। तुमने ही तो इस द्वारा व्यासजी की खिन्नता का खंडन किया। इसी के उपदेश तो व्यासजी का मोह दूर हुआ। इसी को रचकर तो व्यास जं ने अपने को कृतार्थ समझा। इसके प्रभाव को आप स्व जानते हो।"

अच्छा, हम आपसे ही पूछते हैं। व्यासजी के ज्ञान में क्या कमी थी। चारों वेदों का उन्होंने व्यास किया। पञ्चम वेद महा-भारत की उन्होंने रचना की, समस्त पुराणों को उन्होंने बनाया फिर भी उन्होंने अपने को अकृतार्थ ही अनुभव किया उनके हृदय में एक खटक खटकती ही रही। एक कमी को वे अपने अन्तःकरण में अनुभव करते ही रहे। वे इस चिन्ता में दुखी बैठे ही थे, वे परिताप और अज्ञान रूपी समुद्र में गोते खा ही रहे थे, कि सौभाग्यवश आप उनकी कुटिया पर पहुँच गये। आपने ही उन्हें चतुःश्लोकी भागवत का विस्तार के साथ उपदेश दिया और विस्तार पूर्वक भागवत रचना की आज्ञा दी। उसके श्रवण मात्र से ही व्यासजी को परम संतोष हुआ, उनकी चिन्ता

दूर हो गयी। हृदय प्रफुल्लित हो उठा। अन्तःकरण रूपी कमल की सिकुड़ी हुई कलियाँ खिल गयीं, भागवत रचना करके ही उन्होंने अपने को पूर्ण कृतार्थ समझा ये सब करतूतें आपकी ही हैं। स्वयं तो बीज बोते हो जब उससे वृक्ष बन जाता है तो आश्चर्य करते हो यह इतना बड़ा वृक्ष कहाँ से आ गया। स्वयं ही तो ओषधि देकर रोगी को निरोग करते हो, फिर उसी रोग का कोई दूसरा रोगी आता है, तो स्वयं ही अन्य ओषधि की खोज करके खिन्नता प्रकट करते हो, नारदजी आपकी लीला अपार है। यदि आपको भक्ति ज्ञान और वैराग्य का यथार्थ में दुःख दूर करना है तो उन्हें श्रीमद्भागवती कथा सुनानी चाहिये। इसी के श्रवण से उनका समस्त शोक सन्ताप दूर हो जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब नारदजी ने सनकादि मुनीश्वरों के मुख से श्रीमद्भागवत् की ऐसी महिमा सुनी, उनके हर्ष का ठिकाना न रहा। वे प्रेम में बेसुधि हो गये, उनके नेत्रों में आनन्दाश्रु आ गये। वे बड़ी देर तक रोते रहे, फिर आँसू पोंछ कर स्वस्थ चित्त होकर गद्गद कंठ से कुमारों की स्तुति करते हुए कहने लगे—"हे मुनीश्वरो! आप धन्य हैं आप की भागवती निष्ठा धन्य है, आप की अपूर्व स्मृति और भक्ति की कहाँ तक प्रशंसा की जाय। आपने शेषजी के द्वारा श्रीमद्भागवत की कथा सुनी थी। आप वैकुण्ठ लोक से नित्य ही आकाश गंगा में स्नान करके पाताल लोक में शेषजी से भागवती कथा श्रवण करने जाया करते थे। आपकी जटायें उन दिनों सर्वथा गीली ही रहती थीं। आप इस भय से जटाओं को सुखाते भी नहीं थे कि कहीं कथा आरम्भ न हो जाय, हम उसके प्रथम प्रसंग से वंचित न रह जायँ। आपकी भागवती कथा में कितनी भारी निष्ठा है। सौभाग्य से ही मुझे आपके दर्शन हो गये। आपका दर्शन, दर्शन करने वाले मनुष्यों

से सम्पूर्ण पाप तापों को तत्काल नष्ट कर देता है। संसार ताप रूप दावानल से दग्ध पुरुषों को परम शान्ति की प्राप्ति होती है। महानुभावो ! मेरे कोई पूर्वजन्म के पुण्य उदय हुए। जन्मातर के असंख्यों सुकृतों के कारण सन्त समागम प्राप्त होता है। अनेकानेक जन्मों के सञ्चित पुञ्जों का प्रारब्ध वश प्रादुर्भाव हो जाय तब ऐसा सुखद पुण्यप्रद प्रसंग प्राप्त होता है। सत्संग दुर्लभ है अमोघ है अव्यर्थ है। जिसे सत्पुरुषों का सत्संग प्राप्त हो जाता है उसका अज्ञान जन्य मोह और मदरूप अन्धकार उसी प्रकार नाश हो जाता है जिस प्रकार सूर्योदय होते ही निविड़ अन्धकार छिन्न-भिन्न होकर सर्वत्र दिव्य प्रकाश फैल जाता है। तब सभी प्राणियों को घर में रखी सभी वस्तुएँ प्रत्यक्ष दिखायी देनें लगती हैं। सभी प्रकार का विवेक हो जाता है कि यह सत् है यह असत् है। मैं आपकी शरण में इसीलिये आया हूँ, कि प्रेम लक्षणा भक्ति का सर्वत्र प्रचार-प्रसार कर सकूँ। आप ऐसा आशीर्वाद दें कि मेरे द्वारा यह दुरूह कार्य हो सके। अब मैं आप की आज्ञानुसार भक्ति ज्ञान और वैराग्य की स्थापना के हेतु श्रीमद्‌भागवत पारायण रूप ज्ञान यज्ञ को करना चाहता हूँ, इस सम्बंध की सभी बातें मुझे बताइये। मुझे इसकी विधि समझाइये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! नारदजी जिस प्रकार श्रीभागवत श्रवण करने की विधि पूछेंगे उस प्रसंग को मैं आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

नारद शंका करी—"भागवत सार वेद सब।
उठे न ज्ञान विराग वेद वेदान्त कह्यो जब"॥
सनकादिक मुनि कहें—सार वस्तुनि बिलगाई।
सुमन सार मधु ईख मिता पय–घृत सम नाई॥
सार भागवत वेद को, सुनि जब जन हरषाइँगे।
जाकें सुनि सप्ताह कूँ, भक्ति ज्ञान सुख पाइँगे॥

श्रीमद्भागवत कथा-समारोह

[८]

निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा ।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा ॥
क्षेत्राणां चैव सर्वेषां यथा काशी ह्यनुत्तमा ।
तथा पुराण व्रातानां श्रीमद्‌भागवतं द्विजाः ॥*

(श्रीभा० १२ स्क० १३ अ० १६, १७ श्लो०)

छप्पय

है नारद मन मुदित कह्यो—सप्ताह सुनावें ।
होइ कहाँ शुभ यज्ञ पुण्य थल प्रभो ! बतावें ॥
मुनि बोले—हाँ, चलो कथा की करो तयारी ।
हरिद्वार के निकट गङ्ग तट "आनँद" भारी ॥
सब आये आनन्द तट, भक्तभीर भारी भई ।
सुर-ऋषि श्रोता भक्ति-सुत, शरन सबनिकूँ मुनि दई ॥

वक्ता को आनन्द श्रोता देता है और श्रोता को आनन्द वक्ता

---

* सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"हे ब्राह्मणो ! जैसे समस्त नदियों में गङ्गाजी श्रेष्ठ हैं, जैसे समस्त देवताओं में भगवान् अच्युत श्रेष्ठ हैं जैसे वैष्णवों में शङ्करजी श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार समस्त पुराणों में यह श्रीमद्‌भागवत पुराण श्रेष्ठ है। जिस प्रकार समस्त क्षेत्रों में काशीजी अत्युत्तम हैं उसी प्रकार समस्त पुराणों में श्रीमद्‌भागवत का साधन सर्वोत्तम है।"

देता है। योग्य श्रोता देखकर वक्ता का आनन्द सहस्रगुणा बढ़ जाता है। यदि योग्य श्रोता न हो तो वक्ता को कहने में उत्साह नहीं होता और योग्य वक्ता न हो तो श्रोता कितना भी योग्य हो वह पूछकर क्या करेगा, जब उसकी शङ्का का ही समाधान न होगा। साथ ही स्थान का भी-बड़ा प्रभाव पड़ता है, जहाँ का वातावरण संसारी होता है, वहाँ संसारी बातों की ही स्फुरणा होगी, शान्त एकान्त, पुण्य सरिताओं के तटों पर परम पावन प्रसिद्ध तीर्थ क्षेत्रों में स्वतः ही वैराग्य होता है ज्ञान की लहरें उठती हैं भक्ति भाव से हृदय भर जाता है। इसलिये कथा प्रसङ्ग के लिये योग्य अधिकारी श्रोता हों श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ भक्ति भाव से परिपूर्ण हृदय वाले योग्य वक्ता हों, परमपावन पुण्यस्थल हो तो उस कथा में जो आनन्द आता है, उसका वर्णन कौन कर सकता है। अहा, वह समय कैसा रहा होगा जब हरिद्वार के समीप परमपावन आनन्द तट पर वक्ता के उच्चासन पर तो ब्रह्माजी के मानस पुत्र सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन बैठे होंगे, श्रोता के आसन पर नारदजी विराजमान होंगे उनके निमित्त ही ज्ञान वैराग्य अपने पुत्रों सहित भक्ति स्थित होगी। सब बड़े-बड़े ऋषि महर्षि मुनियों को घेरे कथा सुनने को बैठे होंगे तब तो वहाँ अमृत ही बरस रहा होगा। अध्यात्म रूप से इसका रूप बाँधा जाय तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रतीक चार वेद ही चारों सनकादि कुमार वक्ता हैं। नारद का अर्थ है मन, मन ही सच्चा श्रोता है, किन्तु मन के समीप यदि काम, क्रोध लोभादि बैठे हों तो उसका सब सुनना व्यर्थ है, उसके पास तो ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का आसन लगना चाहिये। सम्पूर्ण शुभ विचार ही कल्याण मनन करने वाले मुनि हैं, उनके समूह मनरूपी नारद श्रोता को चारों ओर से घेरे बैठा हो, तभी कथा का यथार्थ प्रयोजन सिद्ध होता है। तभी जरा जर्जरित ज्ञान

वैराग्य युवक बनकर नारद के मन के उत्साह को भर देते हैं, भक्ति नाचने लगती है। ऐसी कथा ही वास्तविक कथा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब नारदजी ने श्रीमद्भागवत सप्ताह रूप ज्ञानयज्ञ करने का निश्चय कर लिया, तब वे कुमारों से हाथ जोड़कर पूछने लगे—"मुनियो! मैंने ज्ञानयाज्ञ करने का निश्चय तो कर ही लिया है, अब आप मेरे कुछ प्रश्नों का उत्तर दें।"

कुमारों ने कहा—"हाँ, पूछिये! हम आपके सभी प्रश्नों का यथामति उत्तर देंगे।"

नारदजी ने कहा—"महानुभावो! आप पर-अपर सभी विषय के ज्ञाता हैं, आप वेद के पार गामी हैं, कोई विषय कोई स्थल आप से अविदित नहीं है। कृपा कर पहिले मुझे बताइये कि भागवत कथा रूप यज्ञ मुझे किस स्थान पर करना चाहिये। अनुष्ठान में देश, काल और पात्र तीनों का ही प्रभाव पड़ता है, अतः पहिले स्थल का निर्णय कर दें।"

कुमारों ने कहा—"नारदजी! हम आपको इस भागवत कथा यज्ञ के लिये बहुत सुन्दर परम भव्य, एकान्त शान्त स्थान बताते हैं। हरिद्वार-गंगा द्वार से कुछ दूर पर विदुरजी की कुटी के सामने–उस पार–हस्तिनापुर से इधर ही एक आनन्द नाम का तट है। वहाँ भगवती भागीरथी की प्रशान्त धारा है। वहाँ की बालू बड़ी ही सुकोमल है। हरिद्वार में तो पत्थर बहुत हैं। वहाँ एक भी पत्थर नहीं। सम भूमि है। ऋषि मुनि वहाँ आकर रहते हैं, गंगाजी का सेवन करते हैं। देवता तथा सिद्ध गण भी वहाँ आकर रहते हैं, वहाँ के वृक्षों के पत्ते अत्यन्त ही कोमल हैं। लतापताओं से परिवेष्टित द्रुमों के कारण वह वन अत्यन्त ही हरा-भरा दिखायी देता है। गंगाजी का घाट भी बड़ा सुन्दर है कीच का नाम तक नहीं। जहाँ तक दृष्टि डालो वहाँ तक बालू

ही बालू दिखायी देगी। वहाँ एक तालाब भी है, चातुर्मास में जब गंगाजी बढ़ती हैं तो उस तालाब को जल से भर देती हैं। वह तालाब विविध भाँति के कमलों से भरा रहता है। इन कनक कमलों की मधुर-मधुर गन्ध से सम्पूर्ण वन्य प्रदेश भरा रहता है। ऋषियों के तप के प्रभाव से वहाँ का वातावरण इतना शान्त निर्वैर बन गया है कि गौओं के साथ सिंह स्वच्छन्द विचरण करते रहते हैं, भेड़ भेड़िया एक घाट पर पानी पीते हैं, कोई किसी को क्लेश पहुँचाने की बात सोचता भी नहीं। ऐसा लगता है, वह स्थान कथा के ही लिये बना है, तुम्हें वहाँ मण्डपादि बनाने के लिये विशेष प्रयत्न भी न करना पड़ेगा। हमारी तो सम्मति यही है, कि आपको उसी स्थल पर यह यज्ञ करना चाहिये। फिर जहाँ भी आपकी इच्छा हो। आपकी नम्रता, शालीनता सज्जनता से प्रभावित होकर ही हमने यह बात बता दी, आप स्वयं विवेकशील हैं। हमें तो वह स्थान इसके सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।"

नारदजी ने कहा—"प्रभो! मैं आपकी आज्ञा का अवश्य पालन करूँगा, उसी स्थान पर आप के द्वारा श्रीमद्भागवत श्रवण करूँगा। अब आप मुझे श्रीमद्भागवत की महिमा और सुना दें, जिससे मेरी श्रवण लालसा बलवती बन जाय, श्रद्धा दृढ़ हो जाय।"

यह सुनकर कुमारों ने कहा—"नारदजी! तुम तो स्वयं श्रद्धावान हो। परोपकार सच्ची श्रद्धा हुए बिना होता ही नहीं। अपने ही जैसे विचार के और भी लोग हों तो साधन भजन अनुष्ठान तथा सभी कार्यों के करने में उत्साह होता है। अतः तुम भक्ति, ज्ञान और वैराग्य को साथ लेकर ही इस रस रूपी कथा को श्रवण करना।"

नारदजी ने कहा—"महाराज! भक्ति तो वृन्दावन में बैठी

है, ज्ञान वैराग्य उठने तक में असमर्थ हैं वे अचेत पड़े हैं, उन्हें मैं आनन्द तट तक कैसे लाऊँगा।"

कुमार बोले—"अरे, भाई तुम्हें उन्हें कन्धे पर लादकर लाना नहीं पड़ेगा। जहाँ भागवती कथा होती है, वहाँ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य स्वतः ही अपने आप आ जाते हैं। कैसी भी दशा में क्यों न हों भक्ति ज्ञान वैराग्य को लेकर ही आवेगी, जहाँ भागवती कथा का शब्द कान में पड़ा नहीं कि वे वृद्ध से युवक बन जायँगे तुरन्त तरुण हो जायँगे। कथा शब्द के प्रभाव से सब में अपार बल आ जायगा सबका पराक्रम पौरुष बढ़ जायगा।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"ऋषियो! कुमारों की ऐसी बात सुनकर नारद जी ने कहा—"तब प्रभो! आप सब मेरे ऊपर कृपा करें। अब भाद्रपद शुक्ल पक्ष है, मैं चाहता हूँ, इसी मास में कथा हो। आप आनन्द तट शीघ्रता के साथ पधारें।"

नारदजी की प्रार्थना सुनकर चारों कुमार जैसे बैठे थे, वैसे ही योगमार्ग से तुरन्त ही गङ्गाजी के आनन्द नामक तट पर पहुँच गये। उनको कोई सामान तो लेना ही नहीं था। वे तो सदा दिगम्बर रहते हैं। लोकों में स्वेच्छा से विचरण करते हैं। बात की-बात में यह समाचार सम्पूर्ण देश में फैल गया। सभी ऋषि मुनि योगमार्ग से तुरन्त आनन्द वन में आ गये। उनके साथ उनके शिष्य पुत्र तथा पत्नियाँ भी थीं। पृथ्वी से लेकर महलोक पर्यन्त कथा की धूम मच गयी। ऋषि, मुनि यक्ष, गंधर्व देवता, नाग, सिद्ध, चार स्वर्ग जनलोक, तपलोक तथा ब्रह्मलोक तक के प्राणी कथा सुनने की लालसा से आये। आने वालों के कोलाहल से, विमानों की भीड़ से दशों दिशायें गूँजने लगीं।

कुछ लोग तो कुतूहल वश दर्शन करने की उत्सुकता से तथा कथा सत्संग का नाम सुनकर आये, किन्तु जो हरि कथा लम्पट भगवद्भक्त वैष्णव थे वे तो कथा का नाम सुनते ही अत्यन्त आह्लाद के साथ सबसे पहिले वहाँ दौड़ते हुए कथामृत पान करने के लोभ से आकर बैठ गये। ऋषियों का तो ताँता ही लग गया। महर्षि भृगु, भगवान् वसिष्ठ, वृद्ध से तरुण बने सुकन्या सहित महर्षि च्यवन, अहल्या सहित महर्षि गौतम, सुप्रसिद्ध महर्षि मेधातिथि, तपनिरत महर्षि देवल, ब्रह्मविद्या विशारद देवरात, जमदग्निनंदन भगवान् परशुराम, कुश वंशोद्भव महर्षि विश्वामित्र, चिरजीवी महर्षि मार्कण्डेय, मुनिवर शाकल, भगवान् दत्तात्रेय, दधीचि नन्दन परम शिवभक्त महर्षि पिप्पलाद, महर्षि पराशर, समस्त वेद पुराणों का व्यास करने वाले भगवान् कृष्ण द्वैपायनव्यास, व्यास नन्दन शुक के पुत्र छाया शुक, गङ्गाजी को भी पुत्री बनाकर निकालने वाले महर्षि जन्हु, ज्ञान के सागर महर्षि जाजलि तथा और भी अनेक देवर्षि, ब्रह्मर्षि, महर्षि तथा राजर्षि वहाँ उपस्थित हुए। बहुतों के साथ उनके पुत्र थे, बहुत से शिष्य समूहों से घिरे हुए थे। बहुतों के साथ उनकी पत्नियाँ भी थीं। सभी आकर सनत्कुमारों को प्रणाम करके बैठ गये।

समस्त शास्त्रों ने सोचा—"हम सबसे ही सार-सार लेकर जो अपूर्व भागवत पुराण बना है, चलो हम भी उस अद्भुत अमृत का पान करें, देखें तो सही उसका इतना भारी माहात्म्य क्यों है, इसलिये चारों वेद, सभी उपनिषदें, तन्त्रशास्त्र, मन्त्र ग्रन्थ, सत्रहों पुराण छहों शास्त्र तथा अन्य सभी धर्म ग्रन्थ सुन्दर देवताओं का रूप बनाकर वहाँ आ गये। गङ्गा, यमुना, सरस्वती आदि सभी पावन सरिता हैं, पुष्कर, प्रयागादि समस्त पापहारी तीर्थ, कुरुक्षेत्र, काशी आदि सभी त्रिभुवन विख्यात क्षेत्र, दशों

दिशायें, दण्डकादि समस्त पावन वन ये सब भी मूर्तिमान होकर कथा श्रवण करने के निमित्त आये। बहुत विस्तार करने से लाभ ही क्या, कहने का अभिप्राय इतना ही है कि देवता, यक्ष, गन्धर्व, नाग, गुह्यक, कूष्माण्ड जितने भी देव उपदेव थे वे वहाँ आ गये।"

कुछ ऐसे भी ज्ञानमानी तपस्वी थे, जो अपने को बहुत बड़ा लगाते थे। कोई पूछता—"आनन्द तट पर भागवती कथा हो रही है, आप नहीं चलेंगे ?" तो वे तुनक कर कहते—"हम कोई ऐसे वैसे हैं जो सुनते ही दौड़ पड़े। कोई आमन्त्रण नहीं, निमन्त्रण नहीं, बात नहीं, चीत नहीं, अपने आप वहाँ दौड़े जायँ। वहाँ किसी ने पूछा नहीं, उचित आसन न दिया तो हमारा घोर अपमान होगा। हम तो भैया ऐसे जाते नहीं।"

महर्षि भृगु ने जब से भगवान् के वक्षः स्थल पर लात मारी है, और भगवान् ने उसे अनुग्रह समझकर अपने वक्षः स्थल पर सदा के लिये धारण कर लिया है, तब से वे अत्यन्त ही विनम्र बन गये हैं, जहाँ भी कहीं भगवत कथा होती है स्वयं स्वतः ही पहुँच जाते हैं और दूसरों को भी प्रेरित करते हैं, उन्होंने जब देखा, कुछ लोग गुरुत्व के कारण नहीं आ रहे हैं तो वे उन सबके पास गये और बोले—"आप लोग कथा सुनने चलते क्यों नहीं, ऐसा अवसर बार-बार नहीं आता, हरिकथा कीर्तन में, यज्ञ में, अपने बन्धु-बान्धवों के उत्सवों में तो बिना बुलाये ही चला जाना चाहिये। आप बुलाने की ही प्रतीक्षा में हैं तो नारद मेरे भाई हैं, उनकी ओर से मैं आप सबको बुलाने आया हूँ।"

जाने की उत्सुकता तो उनको भी थी, किन्तु बड़प्पन के कारण जाने में सकुचाते थे, सो भृगुजी के समझाने बुझाने पर वे भी यह कहते हुए चल दिये कि बुलाने की क्या बात है, यह तो हमारा ही काम है, चलिये हम सब चलने ही वाले थे।"

एक विशाल वट के नीचे लतापताओं से मंडित विशाल मण्डप बनाया गया, बहुत ऊँचा एक सिंहासन रख दिया गया, सम्मुख सुकोमल बालू को समान करके पृथक्-पृथक् विभाग बना दिये गये। जो जैसा था उसके बैठने का प्रबन्ध वैसे ही विभाग में कर दिया गया। व्यास गद्दी के सम्मुख विरक्त वैष्णव, संन्यासी तथा ब्रह्मचारीगण बैठे थे। जो सपत्नीक ऋषिगण थे उनके बैठने का पृथक् प्रबन्ध था। स्त्रियों के बैठने की व्यवस्था दूसरी थी, वहाँ कोई पुरुष नहीं बैठ सकता था। देवताओं का विभाग पृथक् था, तीर्थों की पंक्ति पृथक् थी, वेदादि शास्त्र सब सम्मिलित बैठे थे। तीर्थों का समूह देवताओं के पास था। इस प्रकार सभी अपने-अपने समूह में उत्सुकता के साथ कथा श्रवण करने को बैठे थे।

देवर्षि नारदजी ने हाथ जोड़कर सबका सत्कार किया, कथा में पधारने के लिये कृतज्ञता प्रकट की। उन्होंने सनकादि चारों भाइयों को कथा कहने के लिये वरण किया, उनकी विधिवत् पूजा की। समस्त सभासदों ने भी कुमारों की वन्दना की, पूजा करके उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया सबने तुमुल ध्वनि के साथ जय-जयकार किया आरती हुई, सभी नमोनमः नमोनमः करने लगे। सहस्रों शंख एक साथ बज उठे, घण्टा घड़ियालों की ध्वनि में कुछ सुनायी ही नहीं देता था। कोई प्रसन्नता के साथ खील बतासे बिखेर रहे हैं कोई गुलाल अबीर उड़ा रहे हैं कोई पुष्पों की वृष्टि कर रहे हैं कोई मालाओं को ही उछाल रहे हैं। देवताओं ने भी सुअवसर देखकर विमानों पर चढ़कर कल्पवृक्ष के पुष्पों की वृष्टि की। इतने पुष्प गिरे कि मुनिगण ढक से गये। चारों ओर दिव्य सुगन्धि फैल गयी।

नारदजी पूजन करके सम्मुख ही विरक्त वैष्णव संन्यासियों के आगे श्रोता के आसन पर श्रद्धापूर्वक बैठ गये। उस समय

वहाँ आध्यात्मिक वातावरण दर्शनीय था। सभी अत्यन्त ही उत्सुकता के साथ सनकादि कुमारों की ओर उत्सुकता से देख रहे थे।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! जब पूजन हो चुका और श्रोता वक्ता तथा सभा के सम्पूर्ण सभासद यथायोग्य स्थानों पर बैठ गये तो उस गम्भीरता को भङ्ग करते हुए कुमारों ने कथा कहना आरम्भ किया। चारों में से कथा एक ही कहते थे, बीच २ में सभी सहयोग दे रहे थे, सर्वप्रथम उन्होंने श्रीमद्भागवत का माहात्म्य कहना आरम्भ किया। उस दिन कार्तिक शुक्ला गोपाष्टमी थी उस दिन सनकादिकों ने माहात्म्य कहा और दूसरे दिन अक्षय नवमी से मूल कथा आरम्भ की।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! पहिले हमें माहात्म्य तो सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज! अब मैं माहात्म्य ही तो कहूँगा। सनकादि मुनीश्वरों ने जिस प्रकार नारदजी को श्रीमद्-भागवत का माहात्म्य सुनाया था उसे ही मैं स्पष्ट करके आपके आगे कहूँगा। आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

सुर सर सरिता, सकल निगम, वन तीरथ आये।
तन्त्र-मन्त्र सब शास्त्र यथा क्रम तहँ बैठाये॥
सिंहासन सनकादि विराजे सब सुख पायो।
पूजा नारद करी दशहुँ दिशि आनन्द छायो॥
सुर नर मिलि सब सँग करहिँ, शंख घोष जयकार धुनि।
नभ बरसावें सुमन सुर, कथा कहन तब लगे मुनि॥

—०—

श्रीमद्भागवत-महिमा

(६)

राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे ।
यावत् भागवतं नैव श्रूयतेऽमृत सागरम् ॥*
(श्रीभा० १२ स्क० १३ अ० १४ श्लोक)

छप्पय

मुनि बोले "अब कथा महातम तुम्हें सुनावैं ।
जे श्रद्धा तैं सुनें जनम जग ते नहिं पावैं ॥
कथा भागवत सकल शोक सन्ताप मिटावै ।
सुख सरसावै सदा कृष्ण-पद प्रीति दृढ़ावै ॥
प्रानी प्रतिदिन प्रेम तै, पाठ करैं पातक मिटैं ।
पावे पुनि ते परम पद, भव बन्धन सुनिकैं कटैं ॥

यदि हम किसी बात को अनिच्छा पूर्वक भी सुनें तो उन शब्दों का हमारे ऊपर कुछ-न-कुछ प्रभाव तो पड़ेगा ही। कोई अनिच्छा पूर्वक किसी को स्वभाव वश गाली दे दे, गाली देने वाले का भाव दूषित भी न हो तो भी श्रवण करने वाले को एक बार तो बुरा लगेगा ही। बार-बार जिसको कहें सुनें उसका हृदय में स्थान बन जाता है, एक कूटनीतिज्ञ का कथन था, किसी झूठ

---

* सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! सत्पुरुषों की सभा में अन्य दूसरे पुराण तभी तक शोभा पाते हैं, जब तक अमृत से लबालब भरे इस सागर रूप श्रीमद्भागवत का अमृत पान-श्रवण नहीं किया जाता।"

बात को तुम एक सहस्र बार कहो, तो वह जनता को सत्य-सी प्रतीत होने लगेगी। यही बात भगवत् कथा के सम्बन्ध में है भगवान् की कथा अमोघ है, उसे सुनने से, पाठ करने से, मनन तथा निदिध्यासन करने से प्रेम उत्पन्न हो ही जाता है, हृदय में जहाँ प्रेम पैदा हुआ नहीं तहाँ भगवान् दूर नहीं। प्रेम ही भगवान् का स्वरूप है। महिमा सुनने से उस विषय में आसक्ति होती है, वस्तु माहात्म्य ही उस ओर प्रवृत्त करता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब सनकादि महर्षि कथा के उच्चासन पर बैठ गये और नारदजी के सहित समस्त श्रोता सावधान होकर सुनने को समुत्सुक हुए तब सनकादि महर्षियों ने कहना आरम्भ किया।"

सनकादि महर्षि बोले—"नारदजी! अब हम सबसे पहिले आपको श्रीमद्भागवत की महिमा सुनाते हैं। जिसके सुनने मात्र से मनुष्य मुक्ति का अधिकारी बन जाता है। यह भागवती कथा एक दिन सुनने की वस्तु नहीं है, उपन्यास कहानी एक दिन सुने छोड़ दिये। इसका तो नित्य नियमपूर्वक श्रवण करना चाहिये। श्रवण करते-करते हृदय में एक स्थान बन जाता है, उस स्थान में अपने आप ही एक छोटा-सा मंदिर बन जाता है, उस मंदिर में बिना बुलाये ही वासुदेव भगवान् विराजमान हो जाते हैं।"

अब आप लोग हमसे श्रीमद्भागवत के स्वरूप के सम्बन्ध में पूछेंगे—"इसलिये मैं श्रीमद्भागवत का स्वरूप बताता हूँ, सर्व-प्रथम श्रीमन्नारायण ने ब्रह्माजी को इसका संक्षेप में उपदेश दिया। ब्रह्माजी ने इन नारदजी को व्याख्या सहित चार श्लोकों में इसका तात्पर्य समझाया। वे चारश्लोक व्याख्या सहित नारदजी ने व्यासजी को कहे। व्यासजी ने इसका विस्तार किया, अपने पुत्र शुकदेव को पढ़ाया। शुकदेवजी ने भी इसका विस्तार किया। वही सूतजी ने सुनकर शौनकादि महर्षियों को

सुनाया। इस प्रकार यह अठारह सहस्र श्लोकों का सुन्दर सुव्यवस्थित ग्रन्थ बन गया है। इसमें बारह स्कन्ध हैं। परीक्षित शुक सम्वाद के रूप में यह जगत् में प्रसिद्ध हुआ है। उसी भागवत शास्त्र को हम तुम्हें सुनावेंगे, पहिले इसकी महिमा को सुनो। बोलो—हरये नमः।

महाभाग श्रोतागण ! आप लोग बड़े भाग्यशाली हैं। भाग्यशालियों को ही भागवती कथा पढ़ने और सुनने को मिलती है। संसार में सम्पूर्ण पदार्थ विद्यमान हैं किन्तु वे मिलते हैं भाग्यशालियों को ही। भागवत जैसे ग्रन्थ के रहते हुए भी लोग संसार चक्र में घूमते रहते हैं। जैसे अड़ूसा का वन लगा रहने पर भी लोग खाँसी से व्याकुल रहते हैं। इसे जीवों का दुर्भाग्य ही समझना चाहिये। यह कमनीय कृष्ण कथा जब तक कर्ण कुहरों में प्रवेश नहीं करती तभी तक हृदय में अंधकार रहता है, जहाँ, कर्णों द्वारा कथा के दिव्य शब्द अन्तःकरण में पहुँचे तहाँ अज्ञान तम तुरन्त विलीन हो जाता है।

बहुत शास्त्रों के सुनने से बुद्धि विभ्रम हो जाती है किसी में कुछ लिखा है, किसी में कुछ। समन्वय सभी नहीं कर सकते, अतः सर्वसाधारण में भ्रम हो जाना स्वाभाविक है, अतः अधिक श्रम करने की आवश्यकता ही क्या है। यह शास्त्र सर्वथा परिपूर्ण इसे किसी अन्य शास्त्र की आवश्यकता नहीं। सब शास्त्रों का सार-सार इसमें भर दिया है। इसीलिये यह एक अद्भुत अलौकिक विचित्र ही बन गया है। भुक्ति, मुक्ति, तथा सभी कुछ देने में यह समर्थ है। इसीलिये यह सबसे आगे दहाड़-दहाड़कर कहता है जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता हो मेरी शरण में आवे।

जिस स्थल पर श्रीमद्भागवती कथा नित्य नियम से होती है उस स्थल को भागवती-तीर्थ ही मानना चाहिये। यहाँ निवास

करने वाले सब पाप रहित बन जाते हैं, क्योंकि उनके कानों में नित्य कथा शब्द पड़ता रहता है। पहिले अश्वमेध वाजपेय यज्ञ ही सबसे पुण्य माने जाते थे, किन्तु ऐसे सहस्रों यज्ञ इस कथा के सोलहवें अंश भी नहीं हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! केवल कथा ही सहस्रों यज्ञों से बढ़कर कैसे हो सकती है?"

सूतजी बोले—"भगवन्! यज्ञों से पाप क्षय होकर पुण्यों की वृद्धि होती है। पुण्य से उत्तम लोक प्राप्त होते हैं। विषयवार्ता ही पाप हैं, जहाँ कृष्ण कथा के शब्द भीतर पहुँचे नहीं कि फिर पाप ठहर ही कैसे सकते हैं?" तीर्थों में जाने से भी पाप कटते हैं, गङ्गाजी तो पाप-पहाड़ काटने की छैंनी ही हैं। गङ्गा, गया, पुष्कर प्रयाग तथा काशी आदि तीर्थों में पापों का नाश होता है, किन्तु ये सब श्रमसाध्य, द्रव्यसाध्य, तथा कष्टसाध्य हैं। किन्तु भागवती कथा के लिये तो कहीं जाना नहीं पड़ता, घर बैठे आप इनसे भी अधिक पुण्य प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिये सनकादि महर्षियों ने कृष्णकथा को सभी तीर्थों व्रतों तथा यज्ञों से श्रेष्ठ कहा है। मुनियों ने सुनने के साथ अपने मुख से पाठ करने की महिमा बहुत कही है।"

सनकादि मुनि कहते हैं—"नारद! जो लोग चाहते हों हमें परमगति की प्राप्ति हो उन्हें श्रीमद्भागवत का नित्य नियम से पाठ करना चाहिये। ५० अध्याय नित्य न कर सके, तो २५ ही करे उतना भी न हो तो बारह अध्याय, एक अध्याय अथवा एक श्लोक ही नित्य पाठ करे तो अश्वमेध राजसूय के समान फल है। एक भी न पढ़ सको तो आधा चौथाई जितना पढ़ सको नित्य नियम से पढ़ा करो। श्लोक न पढ़ सको उसका भाषा में भावार्थ ही पढ़ो। जो लोग दिन रात अर्थ पर ध्यान रखकर श्रीमद्भागवत को ही पढ़ते रहते हैं, उनके जन्म जन्मान्तरों के—

करोड़ों जन्मों के-पाप नष्ट हो जाते हैं। भगवान् के अनेक रूप हैं, वे सब तत्व से तो एक ही हैं। श्रीमद्भागवत भी भगवान् का रूप ही है। जैसे प्रणव, गायत्रीमन्त्र, ऋक्, साम, युजः तथा अर्थव ये चारों वेद, द्वादशाक्षरमन्त्र, द्वादशसूर्य, तीर्थराजप्रयाग, संवत्सरात्मककाल, ब्राह्मण, अग्निहोत्र, कामधेनु, एकादशीव्रत, तुलसी, वसंतऋतु और पुरुषोत्तम तथा श्रीमद्भागवत ये सब समान ही हैं, इनमें कोई भी भेदभाव नहीं। इसीलिये जो श्रीमद्भागवत का पाठ करता है, भगवान् पुरुषोत्तम का चिन्तन करता है, तुलसी जी का पालन-पोषण और पूजन करता है तथा श्रद्धा भक्तिपूर्वक गौमाता की सेवा सुश्रूषा करता है उसे समान ही फल प्राप्त होता है, श्रीमद्भागवत का पाठ करते-करते जिन्हें अभ्यास हो गया है, वे मरते समय भी भागवत का स्मरण करेंगे। स्मरण न भी हुआ यदि वे मरते समय भागवत का पाठ श्रवण भी कर लें तो उन्हें भगवान् वैकुण्ठनाथ अपना लोक वैकुण्ठ अवश्य ही दे देते हैं, इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं क्योंकि अन्त में जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है।

श्रीमद्भागवत के दान का भी बड़ा माहात्म्य है, जो सुवर्ण के सिंहासन पर श्रद्धापूर्वक स्थापित करके भागवत का दान करते हैं, वे सायुज्य मुक्ति के अधिकारी बन जाते हैं।

नारदजी! सोचो तो सही इस संसार में रखा ही क्या है। न जाने कहाँ से अपरिचित घर से एक लड़की ले आते हैं, उसे कहते हैं यह मेरा आधा अंग है, प्रकृति के नियम के अनुसार उससे बच्चा होता है, उसे कहता है पुत्र है। ये स्त्री पुत्र नित्य-प्रति क्लेश ही पहुँचाते रहते हैं। अपना शरीर भी रोगों का घर है, स्त्री बच्चों की रात-दिन चिन्ता लगी रहती है, निरन्तर उनके लिये द्रव्य जुटाने में ही समय व्यतीत होता है, जैसे कुम्हार तथा धोबी का गधा बोझ ही ढोता रहता है। जैसे श्वपच चांडाल पेट

के लिये लोगों के प्राणों को हरता है, फाँसी पर चढ़ाता है, कुत्तों को मार कर खाता है। इस संसार में चारों ओर अशांति ही अशांति है, सब स्वार्थ में अन्धे होकर एक दूसरे को निगल जाना चाहते हैं, यहाँ एक ही वस्तु सार है, वह है भगवत् सम्बन्धी भागवती कथा। जिस शठ पुरुष का सभी समय खाने पीने और परिवार के भरण-पोषण में ही बाता, जिसने चित्त को एकाग्र करके जीवन पर्यन्त कभी भी भक्तजनों की मंडली में बैठकर भागवती कथाओं को श्रद्धापूर्वक श्रवण नहीं किया तो उसमें और चांडाल में अन्तर ही क्या रहा। उसमें और भारवाही गदहे में भेद ही क्या ? उसने अपनी माता के यौवन रूपी वन को कुठार बनकर निर्दयता से काटा ही। वह केवल अपनी जननी को प्रसव पीड़ा पहुँचाने का कारण मात्र ही बना। जो मानव तन पाकर भागवती कथा से वञ्चित है, उसके जीवन से लाभ ही क्या ? वह तो जीता हुआ भी मृतक के ही समान है। आहार निद्रा, भय और मैथुन ये सब तो पशुओं में और मनुष्य मे समान ही हैं। सब पशु पक्षियों का सिर नीचा ही होता है, केवल मनुष्य का ऊँचा होता है, वह ऊँचा सिर भगवत् कथा के ही निमित्त है, जो भगवत् कथा से वञ्चित है, वह तो मनुष्य रूप में पशु है, वह तो भू का भार भूत ही है। ऐसे कृष्ण कथा से वञ्चित पामर पुरुष को पुनः-पुनः धिक्कार है। उसको मनुष्य ही नहीं देवता भी धिक्कार देते हैं। संसार में सब कुछ प्राप्त हो सकता है, किन्तु कृष्ण कथा का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। कोटि-कोटि जन्मों के पुण्य से ही ऐसा सुअवसर प्राप्त होता है।"

नारदजी ने पूछा—"प्रभो ! मैं यह जानना चाहता हूँ, कि श्रीमद्‌भागवत को कब सुनना चाहिये ?" के दिन में सुनना चाहिये ?"

सनकादि मुनि बोले—"नारदजी ! अमृत पीने का भी कोई

नियम है क्या? जब भी अमृत मिले तभी उसे पी जाना चाहिये। जैसे अन्न, जल, वायु का पान नित्य प्रति किया जाता है वैसे ही भागवत का पठन नित्य नियम से करना चाहिये, भागवती कथाओं का श्रवण सदा सावधानी से करना चाहिये, सहस्रों कार्य छोड़कर बुद्धिमान पुरुष को प्रयत्नपूर्वक प्रतिदिन प्रेम से पाठ करना चाहिये सुनना चाहिये।"

नारदजी ने पूछा—"प्रभो! तब भागवत सप्ताह की इतनी महिमा क्यों है? हम तो सदा से सप्ताह के सम्बन्ध में ही सुनते आ रहे हैं?"

कुमार बोले—"देखो नारदजी! श्रीमद्भागवत के अनुष्ठान में दो प्रधान नियम हैं, सत्य और ब्रह्मचर्य। सदा सर्वदा सत्य भाषण करे, ब्रह्मचर्य पूर्वक रहे। तभी इसकी यथार्थ महिमा सिद्ध होती है। किन्तु अब आ गया है कलिकाल, कलिकाल में लोगों को अनेक कार्य अनेकों चिन्तायें लगी रहती हैं, कलियुगी लोगों को सबसे बड़ी पेट की चिन्ता है, पेट की भी क्या चिन्ता, पेट तो सबका जैसे-तैसे भरता ही है, यथार्थ चिन्ता तो तृष्णा की है। सभी को तृष्णा लगी रहती है, मेरे ही पास सबसे अधिक भोग सामग्री एकत्रित हो जायँ, जिन पर पर्याप्त हैं वे और जुटाने की चिन्ता में लगे रहते हैं, जिन पर अपर्याप्त हैं, वे प्राप्त करने में असमर्थ होने से दूसरों को देखकर जलते रहते हैं। भगवत् चिन्तन को उन्हें समय ही नहीं मिलता। यही सब सोच समझ कर सर्वज्ञ व्यासनन्दन भगवान् शुक ने सप्ताह की एक विशेष विधि का आविष्कार कर दिया है।"

उन्होंने सोचा—"जो नित्य नियम से कर सकें, वे तो सर्वोत्तम हैं ही, किन्तु जो नित्य न कर सकें, वे कभी सात दिन का समय निकाल कर अनुष्ठान पूर्वक नियम से सप्ताह सुन लें।"

नारदजी ने पूछा—"सप्ताह की विशेष विधि बनाने की आवश्यकता क्यों पड़ी ?"

सनकादि मुनि बोले—"महाराज परीक्षित् को सात दिन में सर्प काटने का शाप हुआ था। उन्होंने मृत्यु को समीप आयी देखकर, बड़े नियमपूर्वक, अन्नजल त्यागकर, एकाग्रचित्त से अनुष्ठान पूर्वक सात दिन में श्रीशुकदेवजी से भागवत कथा सुनी। उसी समय शुकदेवजी ने सोचा—"राजा परीक्षित् को तो एक ही दिन एक ही सर्प के काटने का भय था, किन्तु कलियुग में तो संसार रूप सर्प प्राणियों को नित्य ही काटता रहता है, उसके दंश से प्राणी पूरे मरते नहीं बिल बिलाते रहते हैं। सदा सर्वदा तो ये उसकी चपेट से बच नहीं सकते। जीवन भर तो मनोवृत्तियों को वश में कर नहीं सकते, दीर्घकाल तक तो नियमों का पालन कर नहीं सकते। दूसरे युगों में सहस्रों वर्षों की दीक्षा ली जाया करती थी। यज्ञ में दीक्षित् बड़े-बड़े लोग दीर्घ काल तक कठोर से कठोर नियमों का दृढ़ता से पालन किया करते थे, किन्तु कलियुग में ऐसा करना साधारण जीवों की शक्ति के बाहर की बात है, अतः कृपा के सागर भगवान् शुक ने भागवत सप्ताह का यह विशेष नियम प्रचलित कर दिया कि भाई, दीर्घ काल तक नियम अनुष्ठान न कर सको तो सात दिन तो संयम से रहकर सप्ताह सुन लो। इस सप्ताह का ही उन्होंने इतना फल बता दिया कि श्रद्धापूर्वक नित्य श्रवण करने से या माघ मास में प्रयाग आदि तीर्थों में नियमपूर्वक नदी तट में वास करके एक महीने तक भागवत श्रवण करने से जो फल मिलता है, वह विधिपूर्वक सप्ताह सुनने से ही मिल जायगा, यह शुकदेव भगवान् की विशेष आज्ञा है।"

नारदजी आप सोचें, कलियुगी जीव अल्पप्राण अल्पायु अल्प शक्ति वाले होते हैं। तनिक सरदी लगी श्लेष्मा हो गया,

ज्वर आ गया। कोई वस्तु स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं है, उसी पर मन चल गया, खा ली शरीर रोगी हो गया। इस कारण न तो चिरकाल कठोर संयम ही कर सकते हैं न बहुत दिन निरोग ही रह सकते हैं, सभी को कोई-न-कोई रोग लगा ही रहता है, फिर आयु भी न्यून। जहाँ दूसरे युगों में सहस्रों लाखों वर्षों तक जीते थे, वहाँ कलियुगी लोगों की अधिक-से-अधिक सौ वर्ष की आयु होती है। सौ तक कोई विरला ही पहुँचता है, नहीं तो ४०-५०-६० अधिक-से-अधिक ७०-८० में ही सब समाप्त हो जाते हैं। ऐसी दशा में कभी तो सप्ताह श्रवण करने का संकल्प उठेगा। सात दिन नियम संयम से रहकर कथा सुनने की कभी तो इच्छा होगी। एक बार भी सप्ताह सुन लिया तो बेड़ा पार हो गया। शुकदेवजी ने इसमें शक्ति ही ऐसी भर दी है। वैद्य किसी औषधि को पुट दे दे कर ऐसी शक्ति शालिनी बना देते हैं, कि एक दिन खा लीजिये वर्षों तक अपना प्रभाव जताती रहेगी। इसी प्रकार यह सप्ताह यज्ञ परमहंस मुनि ने सिंह के समान ऐसा शक्तिशाली बना दिया है कि यह तप से, योग से, समाधि से, श्रुति से, यज्ञ से, व्रत से, तीर्थ से, ध्यान से, ज्ञान से तथा कर्म आदि सभी से टक्कर लेता है, सबके सम्मुख निर्भय होकर दहाड़ लगाता है। उसके सम्मुख सभी साधन शिथिल पड़ जाते हैं। ऋषि मुनियों का आविष्कार ही जो ठहरा। वैज्ञानिक लोग एक ऐसा कोड़ा बना देते हैं, जिसके सम्मुख बड़े-बड़े सिंह व्याघ्र भाग जाते हैं. ऐसे वस्त्र बना देते हैं, जिन्हें पहिन कर सिंह शरभ किसी के पास जाओ वही अचेत होकर गिर पड़ता है। सप्ताह यज्ञ ऐसा ही कलियुगी कवच है।"

यह सुनकर सूतजी से शौनक मुनि ने शंका की—"सूतजी! शुकदेवजी ने इस सप्ताह यज्ञ में ऐसी शक्ति भर कैसे दी? श्रीमद्भागवत में इतना बल आ कहाँ से गया? यह तो आप

अत्यद्भुत बात सुना रहे हैं। इस कथन से तो आप सप्ताह के सम्मुख सभी साधन को प्रभावहीन सिद्ध कर रहे हैं? यह सप्ताह यज्ञ सभी से बढ़कर मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ कैसे हो सका?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! बल साधनों में थोड़ा ही होता है। सब में उन जगत कर्ता भगवान् का ही बल है। वे जिसे चाहें बली बना दें, जिसे चाहें निर्बल बना दें। बल के आदिस्रोत तो वे अच्युत ही हैं। देखिये, जब उन्हें तमोगुण को बली बनाना होता हैं, तो यक्ष राक्षसों के शरीरों में घुसकर उन्हें बली बना देते हैं, फिर उन्हें ऋषि, मुनि, देवता कोई भी नहीं जीत सकते। बहुत से राक्षस सहस्रों ज्ञानी, ध्यानी तपस्वी ऋषियों को खा जाते थे। जब उन्हें रजोगुण को बढ़ाना होता है तो राजाओं के असुरों के शरीर में घुस जाते हैं, उस समय वे ऐसे दुर्धर्ष हो जाते हैं, कि भगवान के अवतार भी उनके सम्मुख कुछ नहीं बोलते। देवता लाख बार जाकर क्षीर-शायी भगवान् के सम्मुख रोते हैं। भगवान् उनसे बात नहीं करते, दृष्टि नहीं मिलाते। मिलावें कैसे वे तो असुर राजाओं के शरीर में छिपे बैठे रहते हैं। जब सत्त्व गुण को बढ़ाना होता है, तो वे देवता और ऋषियों के शरीर में घुस जाते हैं। उस समय राजागण, असुर यक्ष, राक्षस सब बिल्ली बन जाते हैं। कोई चूँ तक नहीं करता। सो, मुनियो! साधनों में कोई बल नहीं भगवान् जहाँ भी बैठ जायँगे, वहीं, तेज, बल, वीर्य, पराक्रम, सम्मान तथा कान्ति आदि सब गुण आ जायँगे, प्रभावशाली आदमी जहाँ भी बैठ जाता है, वही उच्चस्थान बन जाता है, इस विषय में मैं आपको एक छोटा-सा दृष्टान्त सुनाता हूँ।

एक बड़ा प्रतापशाली सम्राट्-राजा था। उसके राज्य में एक ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति उत्पन्न हो गया कि शनैः-शनैः उसने

प्रजा को वश में करके स्वयं वह राजा बन बैठा। सभी उसका लोहा मानने लगे। सम्राट ने भी सुना, उसने उससे लड़ने को सेना भेजी, किन्तु, सेना परास्त होकर लौट आयी। सम्राट को कुतूहल हुआ वह कैसा निर्भीक बुद्धिमान व्यक्ति है जो साधारण आदमी से अपने बल प्रभाव से राजा बन गया। उसे देखना चाहिये। उसकी बुद्धि की परीक्षा करनी चाहिये।

यह सोचकर उसने अपने मंत्री को प्रेमपूर्वक उसके समीप भेजा और उससे कहा—"उस व्यक्ति को सम्मानपूर्वक राजसभा में बुला लाओ। यदि वह निर्भीक साहसी बुद्धिमान होगा, तो अवश्य ही मेरे निमन्त्रण पर आ जायगा।"

मन्त्री ने जाकर सम्राट की सभी बातें उस व्यक्ति से कह दीं। वह तुरन्त ही अकेला सम्राट से मिलने चल दिया। सम्राट ने भी उसकी परीक्षा के लिये एक खेल रचा। अपने मंत्री को राजसी वस्त्र पहिनाकर छत्र चँवर लगवा कर राजसिंहासन पर बिठा दिया और स्वयं सिंहासन के नीचे मन्त्रियों जैसे वस्त्र पहिन कर हाथ में मन्त्रियों की जैसी सामग्री लेकर बैठ गया।

वह व्यक्ति आया आते ही उसने सिंहासन पर बैठे मन्त्री का सम्मान न करके मन्त्री के स्थान पर बैठे सम्राट का सम्मान किया और उसी की ओर मुख करके उसके सम्मुख खड़ा हो गया।

सम्राट ने पूछा—"आपने तो इसके पूर्व मुझे कभी नहीं देखा था, फिर सिंहासन से नीचे स्थान पर बैठे मुझको आपने कैसे पहिचान लिया।"

उस व्यक्ति ने कहा—"श्रीमान्! बड़े लोग जहाँ बैठ जाते हैं वहीं बड़ा स्थान बन जाता है। ऊँचे नीचे स्थान से बड़प्पन थोड़े ही है। बड़े लोगों के बैठने से ही स्थान की बड़ाई है। राजा

के सिंहासन के ऊपर मच्छर भी उड़ते रहते हैं वे बड़े थोड़े ही हो जाते हैं।"

सम्राट ने पूछा—"फिर आपको कैसे प्रतीत हुआ कि सम्राट मैं ही हूँ ?"

उस व्यक्ति ने कहा—"श्रीमान् ! जिसे आपने सिंहासन पर बिठा रखा है वह भी बार-बार आपका ही मुख देख रहा है वह भी आपके ही संकेत का उत्सुक बना है। सम्पूर्ण सभासद् भी उसे न देखकर आपके ही मुख को जोह रहे हैं यही सब देखकर मैं समझ गया कि दाल में कुछ काला है, सम्राट आप ही हैं। आप जहाँ भी बैठ जायँगे वही सबसे श्रेष्ठ आसन हो जायगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो मुनियो ! साधन सभी अपूर्ण हैं जब जिस समय जिस साधन में भगवान् बैठ जायँ, उस समय वही सबसे श्रेष्ठ साधन है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! श्रीमद्भागवत में इस कलिकाल में भगवान् बैठ गये हैं यह आपने कैसे जाना ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! इस सम्बन्ध की एक कथा है। जब महाभारत युद्ध हो गया, धर्मराज युधिष्ठिर सिंहासन पर बैठ गये तब भगवान् ने निज लोक पधारने का संकल्प करके उद्धवजी को अपनी चरणपादुका प्रदान करके बदरीवन में जाने की आज्ञा दी और आप प्रभासक्षेत्र में कुल का संहार करके पीपल के नीचे बैठकर स्वधाम जाने को उद्यत हुए। उसी समय पता लगाते-लगाते उद्धवजी पुनः वहाँ पहुँचे। भगवान ने उन्हें अन्तिम उपदेश दिया जो श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में वर्णित है। उपदेश सुनने के अनन्तर भी उद्धव नहीं हटे। तब भगवान् ने कहा—"अब तुम और क्या चाहते हो ?"

उद्धवजी ने हाथ जोड़कर गद्गद् कण्ठ से आँखों में आँसू भर कर कहा—"प्रभो ! दास को कुछ निवेदन करना है ?"

भगवान् ने आश्वासन देते हुए कहा—"कहो, कहो—उद्धवजी ! मैं आपकी समस्त इच्छाओं को पूर्ण करूँगा।"

उद्धवजी ने निवेदन किया—"प्रभो ! जब आप तो भू का भार उतार कर भक्तों का भय दूर करके उनके समस्त कार्यों को सुन्दर रीति से सम्पन्न करके अपने परम धाम को पधार रहे हैं, किन्तु अब आने वाले भक्तों का क्या होगा, यही चिन्ता मेरे चित्त को व्यथित कर रही है।"

भगवान् ने कहा—"उद्धवजी ! स्पष्ट कहो, तुम्हारे कहने का अभिप्राय क्या है ?"

उद्धवजी बोले—"भगवन् ! दास की प्रार्थना यह है, अब तो आपने पृथ्वी से बीन-बीन कर सभी दुष्टों का संहार कर ही दिया। अब यदि सत्य युग आता, तो कोई चिन्ता की बात ही नहीं थी, किन्तु द्वापर के पश्चात् तो कलियुग का आना अवश्यम्भावी है। आ । क्या कलियुग तो आ ही गया है, आपके चरणारविन्द जब तक अवनि पर हैं तब तक कलियुग छिपा है, जहाँ ये चरण अन्तर्धान हुए तहाँ कलियुग अपना प्रभाव जमा लेगा। कलियुग में पुनः दुष्ट पुरुष उत्पन्न होंगे। साधुओं का बीज नाश न होगा, फिर भी प्रभो ! संग का दोष तो कुछ-न-कुछ होता ही है। सहस्र दुष्टों में कोई सज्जन पुरुष हुए भी तो संगदोष से उनमें भी कुछ दोष तो आ ही जायेंगे। यह पृथ्वी तो सती और साधुओं के ही तेज से टिक रही है। जब असाधुओं के संसर्ग से साधु पुरुष भी उग्र स्वभाव के हो जायेंगे तब फिर यह पृथ्वी किसके आश्रय से रहेगी। इसके पाप के भार को कौन हलका करेगा ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धवजी ! आप चिन्ता मत करो। मैं तो घट, पट, अणु, परमाणु, सभी में व्याप्त हूँ, मेरा सर्वान्तर्यामी रूप ही सबकी रक्षा करेगा।"

उद्धवजी ने कहा—"हाँ, भगवन् ! यह तो सत्य ही है, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारागण तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आपके ही शासन से तो चल रहा है आप सृष्टि के आदि से हैं और अंत तक रहेंगे, आपका न आदि है न अन्त है इसीलिये तो आपको अनन्त अनादि कहते हैं। आप प्राणी मात्र का भरण पोषण करते हैं, इसीलिये विश्वम्भर कहाते हैं, आप में प्रकृति सत्त्व, रज, तथा तम इन तीनों गुणों का लेशमात्र भी नहीं इसीलिये वेदों ने आपको निर्गुण बताया। आपका जन्म नहीं इसीलिये आप अजन्मा हैं। आपकी भौतिक तत्त्वों से उत्पत्ति नहीं इसीलिये आप चिन्मय, सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। यह सब होते हुए भी आपने अवतार ग्रहण क्यों किया ? आपने यह विश्व विमोहन रूप क्यों धारण किया ?"

भगवान् ने उद्धवजी से हँसकर कहा—"अरे भाई, उद्धवजी ! तुम इतना भी नहीं समझते। मैंने दुष्टों के मारने के लिये यह अवतार थोड़े ही लिया था, यह तो मेरा नैमित्तिक गौण कार्य था। दुष्टों का विनाश और धर्म का संस्थापन तो मेरे संकल्प मात्र से ही हो जाता। मेरा एक केश भी इस कार्य को करने में समर्थ है। मैंने तो भक्तों के साथ क्रीड़ा करने के लिये यह अवतार ग्रहण किया। अपने सुख के लिये और साथ-ही-साथ भक्तों को सुख पहुँचाने के निमित्त ही मैंने यह भुवन मोहन जगन् मंगल रूप धारण किया। अपने निज जनों पर करुणा करके ही सौंदर्य, माधुर्य, सौकर्य, वात्सल्य, करुणा तथा औदार्य आदि गुणों से युक्त होकर यह अद्भुत रूप रखा था।"

उद्धवजी ने कहा—"प्रभो ! यह तो मैं भी समझता हूँ, जब आपने एक तृण में अपनी शक्ति स्थापित कर दी तो उसे अग्नि जला नहीं सका, जल गला नहीं सका, वायु सुखा नहीं ...
किसी भी मायाजाल से साधारण पुरुष द्वारा हुए दमन

संस्थापन करा सकते थे। आपने तो अपनी भक्तवत्सलता प्रदर्शित करने के निमित्त ही साधु पुरुषों पर दया करके यह दयामय रूप धारण किया। जिससे करुणा तथा प्रेम की अविच्छिन्न धारा बही। सभी शरणागतों ने अपूर्व अलौकिक सुख पाया। किन्तु प्रभो ! इन कलियुगी भक्तों ने ऐसा कौन-सा पाप किया है, इनके लिये आप इतने कठोर क्यों बन रहे हैं। अब जो आगे भक्त होंगे, उनके लिये भी तो कुछ सहारा होना चाहिये, वे किसे देखकर जीवेंगे, वे किस जगन्मोहन रूप के दर्शन करेंगे, उनके ऊपर भी तो दया होनी चाहिये, उनका भी तो आपको ध्यान रखना चाहिये, इसलिये हे अशरण शरण ! आप उन्हीं होने वाले भक्तों के ऊपर कृपा करके अपने इस रूप को यहीं रहने दें, आप निज लोक को न जायँ। आपके इस रूप के दर्शन सभी भक्तों को होने चाहिये। आप परम धाम पधारने की निज लोक गमन की इच्छा को छोड़ दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"उद्धवजी ! मेरा स्वलोक गमन तो निश्चय है। मुझमें जाना-आना तो बनता नहीं मैं तो सदा सर्वदा सब में सर्वत्र विद्यमान हूँ आने वाले भक्त मेरे निर्गुण रूप की उपासना करेंगे।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज ! यह तो टालने की बात है। भला शरीरधारी पुरुप अशरीरी का कैसे ध्यान कर सकता है। हम कहें हे निर्गुण ! तू कृपालु है, तू बड़ा न्यायप्रिय है, तो कृपा करने वाले न्यायकर्ता परम सुन्दर किसी व्यक्ति की मूर्ति की कल्पना तो करनी ही पड़ेगी। शरीरधारी व्यक्ति के लिये निर्गुण की कल्पना अत्यन्त ही दुष्कर है, फिर जो हम कल्पित मूर्ति बनावेंगे उसकी उतनी सुन्दर कल्पना कर भी नहीं सकते। आप की मूर्ति में सभी सद्‌गुण, सभी विशेषतायें हैं, आपके लिये असम्भव है, आप किसी नियम में बँधे हैं नहीं। भगवन् !

आप रह क्यों नहीं जाते ? रहिये भगवन् ! भक्तगण युग-युग तक आपकी मनोहर मूर्ति के दर्शन पाकर अपने नयनों को कृतार्थ बनाते रहें, सबकी मनोकामना पूर्ण हो, सब आनन्द विभोर होकर आपके दर्शनों का सुख लूटें।"

उद्धवजी के कथन पर भगवान् को बड़ी दया आई। उनकी विनीत प्रार्थना से उनका हृदय पसीज गया। वे कुछ देर तक सोचते रहे और फिर बोले—"उद्धव तुम मुझे हाड़ मांस का व्यक्ति समझते हो क्या ?"

उद्धवजी ने कानों पर हाथ रखकर कहा—"ना, भगवन् ! कदापि नहीं, कभी नहीं, असम्भव सर्वथा असम्भव भगवान् ने मेरे किस शब्द से यह भाव निकाल लिया भक्तवत्सल का श्री विग्रह तो सभी गुणों से रहित परम चिन्मय दिव्य और सभी उपाधियों से रहित है जैसे गङ्गाजल जम गया हो और उसकी एक परम दिव्य परम चिन्मय, परम आनन्दमय, परमसत्य परम मधुर मूर्ति बन गयी हो।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"नहीं, नहीं तुमने तो नहीं कहा मैं तुम्हारे मुख से ही सुनना चाहता था कि मेरी मूर्ति परम दिव्य समस्त दिव्य सद्गुणों का पुञ्जमात्र है और उसके दर्शन भक्त ही कर सकते हैं। तुम जानते हो जैसे गङ्गाजी नित्य हैं, उनके जल को जमाकर कोई हिमखण्ड बना ले उसमें से मूर्ति गढ़ ले, उसी में मेरा आवाहन करे पूजन करे, पूजन के अनन्तर विसर्जन भी तो करना ही होगा, विसर्जन करके उसे गङ्गाजी में पधरा दे, फिर जब इच्छा हो हिम जमाकर पुनः मूर्ति निर्माण कर ले। ऐसे ही मेरी यह अमृतमयी मूर्ति अमृत सागर से हुई है उसी में मैं अन्तर्धान होता हूँ, आगामी भक्त जब चाहेंगे पुनः मेरा निर्माण कर सकेंगे।"

उद्धवजी ने कहा—"अभागे कलियुगी भक्त अमृत सम्"

कहाँ पावेंगे, उनको उसका भी तो पता बताते जाइये, उस समुद्र को भी तो वैकुण्ठ लोक से लाकर इस अवनि पर स्थापित करते जाइये।"

भगवान् ने कहा—"सो, तो प्रबन्ध मैंने पहिले ही कर दिया है। देखो, यह जो श्रीमद्भागवत है, इसमें मैंने अपना सम्पूर्ण निश्शेष तेज स्थापित कर दिया है। यही अमृतार्णव है। इसी में मैं अपने शुद्धस्वरूप से स्वयं साक्षात् अन्तर्धान होता हूँ, जो लोग इस समुद्र का श्रद्धा भक्ति से मंथन करेंगे, उनके संमुख मेरी यही जगन्मोहन मूर्ति ये ही काले-काले घुँघराले वाल यही मोर मुकुट से मण्डित भाल, ये ही अलकें, ये ही पलकें ये ही कपोलों की झलकें, यही शुभ्र दन्तावली और मन्द मुस्कान वाला मनोहर मुकुट, यही सुवर्ण वर्ण का झलमलाता पीताम्बर, यही विशाल वक्षःस्थल, यही दिव्य आभूषणों से मण्डित मनोहर वपुः यही, वंशीविभूषित युगलकर यही कमल चरण अपने आप प्रकटित हो जायँगे। श्रीमद्भागवत ही मेरी प्रत्यक्ष वाङ्मयी मूर्ति है।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! इतना कहकर श्रीभगवान् भागवत रूप सुख के सागर में अन्तर्हित हो गये। इसीलिये कलिकाल में भागवत का इतना माहात्म्य है। भागवती कथा की इसीलिये इतनी महिमा है। इसीलिये यह सरल साधन सभी कठिन साधनों के सम्मुख दहाड़ता है, गर्जता है और ताल ठोंककर खड़ा हो जाता है। भगवान् के प्रवेश करने से ही यह इतना शक्तिशाली साधन बन गया है। कलियुग में सभी साधनों को छोड़कर एकमात्र इसी साधन को अपनाना चाहिये, श्रद्धा संयम और नियमपूर्वक सप्ताह श्रवण करना चाहिये। कलियुग का यही प्रधान धर्म है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् की माया अत्यन्त ही कठिन है। इस नटी माया के चक्कर में जो फँस गया, इस

डाइन पर जो आसक्त हो गया उसका निकलना बड़ा ही कठिन है, इससे तभी निकल सकता है, जब मायेश की शरण में जाय। यह कलिकाल बड़ा घोर परम दारुण युग है इसमें दुःखों का बाहुल्य है, दारिद्र्य का प्रावल्य है, दुर्भाग्य पग-पग पर ठोकर दे रहा है। काम क्रोधादि शत्रु कलिकाल के संकेत से सर्वत्र क्लेश पहुँचा रहे हैं, इन सबसे छूटने के लिये श्रीमद्भागवत का सप्ताह श्रवण परम सुगम सरल सर्वोपयोगी सुन्दर सरस सम्मिलित साधन है। एक कराता है सभी सुनते हैं सभी का उद्धार होता है। इसलिये कल्याण चाहने वाले नर नारियों को अपने जीवन में कम-से-कम एक बार तो अवश्य ही श्रीमद्भागवत का सप्ताह करा लेना चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार जब सनकादि मुनियों ने बड़े आवेश में आकर भागवत सप्ताह का माहात्म्य वर्णन किया तो उससे सभा मण्डप में एक अत्यन्त ही आश्चर्य-मय घटना हुई। उसे देखकर सभी उपस्थित भक्तवृन्द परम-चकित हुए।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वह कौन-सी ऐसी घटना घटी, कृपा करके उसे हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! अभी मैं सुनाता हूँ, तनिक स्वस्थ होकर आचमन कर लूँ।"

छप्पय—स्वयं पधारे कृष्ण भागवत सागर माहीं।
कलि में बिनु सप्ताह सुखद साधन अरु नाहीं॥
मथी भागवत अमृत उदधि परगट प्रभु होवें।
हाय! अभागे लोग कथा बिनु वय सब खोवें॥
पढ़ो प्रेम तैं सुनो नित, पढ़ि सुनि कें पुनि पुनि गुनों।
जीवन में अति जतन करि, एक बार सप्ता सुनों॥

—०—

श्री नारदजी के ज्ञानयज्ञ में भक्ति का प्रादुर्भाव

[१०]

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १८ अ० १२ श्लोक)

छप्पय

यों महिमा सप्ताह सुनाई मुनि सनकादिक।
सबने सुखमय परम लख्यो आचरज सहज इक॥
तरुन ज्ञान वैराग्य भक्ति सँग देखी आवति॥
हरे मुरारे कृष्ण नाथ नामनिकूँ गावति॥
लटलटकी छिटकी छटा, सुघर वेष अति मधुर स्वर॥
अके जके से सब रहे, उँमग्यो अति आनन्द उर॥

वस्तुओं में तो अपना एक स्वाद होता ही है किन्तु अपनी

---

* भक्तवर प्रह्लाद जी उपदेश करते हैं—"जिस पुरुष के हृदय में निःस्वार्थ भक्ति होती है, उसके हृदय में समस्त देवता गण धर्म ज्ञान वैराग्यादि समस्त सद्गुणों के सहित सर्वदा समुपस्थित रहते हैं। जिसके हृदय में भक्ति नहीं रहती उसका मन निरन्तर भाँति-भाँति के सांसारिक विषयों के संकल्प से इधर-उधर भ्रमता रहता है, ऐसे भक्तिहीन पुरुषों में महत् गुण कैसे आ सकते हैं।"

रुचि, अपना स्वाद और अपनी भूख उसमें आनन्द का सुख का संचार कर देती है। दूध अमृत है, किन्तु जिनकी दूध में स्वाभाविक रुचि नहीं उन्हें दूध को पीते ही वमन हो जाती है, बहुत से साग स्वादिष्ट माने जाते हैं किन्तु कुछ लोगों को वे अच्छे नहीं लगते, विवशता से नाक भौं सिकोड़ कर खाते हैं। जिन लोगों को कभी यथार्थ भूख नहीं लगती उनको किसी वस्तु में स्वाद नहीं आता, जब कभी संयोग वश उन्हें भूखा रहना पड़ता है और अत्यधिक भूख लगती है, तो साधारण वस्तु में भी अत्यन्त स्वाद आता है। जिसे भूख ही नहीं उसके सामने कैसी भी सुन्दर स्वादिष्ट वस्तु क्यों न रखी रहे, उसकी इच्छा ही नहीं होती। इसी प्रकार हृदय में तो भगवान् सबके विराजमान् हैं, किन्तु जब तक हृदय में भक्ति नहीं आती भगवान् प्रकट नहीं होते। भक्ति भगवान् की मूर्ति को बनाने वाली है। सभी पत्थरों में मूर्तियाँ विद्यमान है, किन्तु जब तक कोई कुशल कलाकार उन्हें काट छाँटकर आकार नहीं बनाता तब तक मूर्ति नहीं बनती। इसी प्रकार सभी द्रव्यों में मिट्टी, लोहा, पत्थर, ताँबा काष्ठ रग तथा सभी पदार्थों में मूर्तियाँ हैं, किन्तु कलाकार के बिना अप्रकटित ही रहती है। जिस हृदय में भक्ति है उसमें भगवान् निराकार से साकार बन जाते हैं, अप्रकटित से प्रकटित हो जाते हैं। सर्वव्यापी से मूर्तिमान हो जाते हैं, अप्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष बन जाते हैं, अगोचर से गोचर हो जाते हैं, अदृश्य से दृश्य होकर-इन्हीं चर्म चक्षुओं से दीखने लगते हैं यह सब भगवती भक्ति का ही खेल है, भक्ति बढ़ती है साधन महिमा से। भक्ति बढ़ाने के साधन की महिमा सुनते-सुनते भक्ति स्वतः ही अपने आप प्रकट हो जाती है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब सनकादि महर्षि नारदादि ऋषियों के सम्मुख श्रीमद्भागवती कथा का महिमा का बखान

कर रहे थे, तो उन्होंने सामने से एक अत्यन्त सुन्दरी परम तेजस्विनी युवती स्त्री को आते देखा। उसकी लटें एड़ी तक लटकी हुई थीं, वह पीले रंग की रेशमी साड़ी पहिने हुए थी, उसके मुख मंडल पर सहस्रों सूर्यों के समान प्रकाश था उसके दोनों कमल के समान अर्धोन्मीलित नेत्रों से प्रेमाश्रु झर रहे थे। उसके

साथ अत्यन्त सुकुमार परम, तेजस्वी अपूर्व सौंदर्य माधुर्ययुक्त दो बालक थे। उनकी अवस्था पन्द्रह सोलह वर्ष की होगी, वे दो रेशमी पीले वस्त्र पहिने थे। यौवन की उठान उनके मुखमंडल पर स्पष्ट झलक रही थी। देखने में उस महिला के पुत्र प्रतीत होते थे। वे उसका परम शिष्टाचार और आदर के सहित अनुसरण कर रहे थे। महिला के एक हाथ में करताल थी। उसकी ऊर्ध्व दृष्टि थी। पैर अटपट पड़ रहे थे। कोकिला के कंठ को भी तिरस्कृत करने वाला उसका अत्यन्त मधुर कंठ था। वह अत्यन्त शान्त, स्वर तथा लय के साथ—

श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे।
हे नाथ नारायण वासुदेव।

इस मंत्र का तन्मयता के साथ कीर्तन करती आ रही थी। उसके पुत्र उसकी ताल में ताल और स्वर-में-स्वर मिलाकर मंत्र दुहराते जाते थे, उनके सुमधुर गान की पावन ध्वनि दशों दिशाओं में गूँज रही थी, सभी ओर से सभी मंत्र की प्रतिध्वनि आ रही थी, इससे प्रतीत हो रहा था मानों दिशायें ही मिलकर—"श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव इस मंत्र का कीर्तन कर रही हों।"

पुत्रों सहित उस दिव्य देवी को देखकर और उसके श्रुति-मधुर अपूर्व सरस कीर्तन को सुनकर सबके सब मंत्र मुग्ध की भाँति उसी ओर देखने लगे। सबका चित्त कथा से खिंचकर उस सुमधुर गान की ही ओर आकर्षित हो गया। सब सोचने लगे, यह सबके मन को हठात् अपनी ओर आकर्षित करने वाली साक्षात् कमल वासिनी पद्मा के समान देवी सहसा कहाँ से यहाँ आ गयी नारदजी ने भी देखा, वे देखते-के-देखते ही रह गये। उस देवी को देखकर सोचने लगे—इसे तो मैंने कहीं देखा है, फिर सहसा स्मरण हो उठा—"ओ हो! यह तो वह भक्ति महारानी है, जो मुझे वृन्दावन में मिली थी, उस समय उदास सी थी, आज तो इसका मुख मंडल खिला हुआ है। इन दोनों युवकों की ओर से तो मुझे प्रतीत होता है, इनको भी मैंने कहीं देखा है। अरे, हाँ समझ गया, ये तो भक्ति के पुत्र ज्ञान वैराग्य हैं, किन्तु वृन्दावन में ये तो अत्यन्त ही जर्जरित थे। इस समय तो ये नव युवक बने हुए हैं, मुख मंडल पर भी ओज है, तेज है, मन्द मधुर हास्य है, इनका तो कायाकल्प ही हो गया। कौन-सी इन्होंने औषधि खा ली। कहीं अश्विनी कुमारों ने आकर च्यवन मुनि की भाँति इन्हें भी तो च्यवनप्राश खिलाकर दिव्य सर में

स्नान कराकर वृद्ध से युवक तो नहीं बना दिया। यह तो बड़े आश्चर्य की बात है।"

नारदजी ऐसी तर्कना कर ही रहे थे कि भक्ति देवी आकर सनकादि मुनियों के सम्मुख खड़ी हो गयी। सभी समुपस्थित नर-नारी इनका परिचय पाने के लिये अत्यन्त ही उत्सुक हो रहे थे। उनकी उत्सुकता को शमन करते हुए सनकादि महर्षि सबको सम्बोधित करते हुए बोले—"समुपस्थित महानुभावो! आप इन देवी को तो जानते ही होंगे? ये श्रीमद्भागवत के अर्थ को स्पष्ट करने वाली भक्ति महारानी हैं। इनकी सहायता के बिना कोई कितना भी भारी पंडित क्यों न हो श्रीमद्भागवत के अर्थ को लगा ही नहीं सकता। ये ही उसके भावार्थ को विभूषित करने वाली हैं। ये भागवत के प्राणों के समान हैं। इनका दर्शन भाग्यहीनों को कभी भी नहीं मिलता। दम्भी शठ नास्तिक और श्रद्धाहीन पुरुषों को तो इनके दर्शन स्वप्न में भी दुर्लभ हैं।"

सबने पूछा—"तो महाराज! ये यहाँ कैसे पधार गयीं?"

नारदजी ने कहा—"भाई! यह तो श्रीमद्भागवत के माहात्म्य का प्रभाव है। इसी के प्रभाव से अवश होकर इन्हें यहाँ आना पड़ा। नारदजी का श्रम सफल हुआ।"

नारदजी ने भक्ति से पूछा—"देवि! आप वृन्दावन में तो बड़ी उदास थीं आपके ये पुत्र भी अत्यन्त वृद्ध मूर्छित और अचेत थे। आज तो आप बड़ी प्रसन्न हैं ये दोनों भी युवक बन गये हैं इसका क्या कारण है?"

भक्ति देवी ने कहा—"मुनिवर! श्री वृन्दावन ही तो मेरा वास स्थान हैं। मेरे स्वामी श्री नन्दनन्दन ने जिस स्थली को अपने चरण कमलों की रज से पावन किया वही तो मेरा अपना आलय है। जैसे भगवान् का परमधाम तो वैकुण्ठ है, कभी-कभी अवनि पर अवतार ले लेते हैं ऐसे ही मैं सदा ब्रज में वृन्दावन में

निवास करती हूँ द्रविड़ देश में मैंने अवतार ले लिया था। कर्णाटक में बढ़ी महाराष्ट्र में भी गयी। गुजरात तक आते-आते वृद्ध बन गयी। श्रीवृन्दावन अपने निजधाम आकर पुनः अपने यथार्थ रूप को प्राप्त हो गयी किन्तु मेरे ये पुत्र ज्ञान वैराग्य वहाँ बूढ़े हो गये इनका किसी ने वहाँ सम्मान ही नहीं किया।

मुनियो! आप स्वयं सोचें—"माता का तो कोई सम्मान करे, उसके पुत्रों का तिरस्कार करे, तो क्या माता प्रसन्न होगी। माता को प्रसन्न करने का उपाय तो यही है, कि उसके पुत्रों से प्यार करे। उनको खिलावे पिलावे तब माता को सन्तोष होगा। और केवल पुत्रों का ही मान करे, माता की उपेक्षा करे, तो सत्पुत्र उस व्यक्ति से कभी प्रसन्न न होंगे।"

जब तक इस धराधाम पर भगवान् श्यामसुन्दर विराजमान थे, तब तक तो मेरा मेरे पुत्रों का सर्वत्र सम्मान हुआ। भगवान् के स्वधाम पधारते ही अधर्म बन्धु कराल कलिकाल आ गया। मैं तो धाम के प्रभाव से जैसे-तैसे बची रही, किन्तु बचना क्या था मेरे आधार तो श्यामसुन्दर ही थे, जिसका स्वामी ही नहीं होता, उसकी क्या दुर्दशा होती है, इसे भुक्तभोगी ही जानता है, कलि प्रभाव से मैं नष्ट प्रायः हो गयी थी, अब आप महात्माओं के प्रभाव से मुझमें पुनः चेतना आ गयी, फिर से नवजीवन का संचार हुआ। अब आप लोग मुझे आज्ञा दें मैं कहाँ निवास करूँ। क्योंकि पहिले तो भगवान् श्रीवृन्दावनधाम में विराजमान थे, मैं भी वहाँ यमुना पुलिनों में कमनीय कुञ्जों में नृत्य किया करती थी, किन्तु अब वह बात रही नहीं। भगवान् कहीं चले नहीं गये अब भी वृन्दावन में ही हैं, किन्तु गुप्त अप्रकट रूप से हैं, मैं भी एक रूप से वहाँ भी गुप्तवास करूँगी, किन्तु आपने बताया प्रकट रूप से तो भगवान् श्रीमद्भागवत में आकर रहने

लगे हैं, उनका समस्त तेज भागवत् में आ गया है, तो मेरे लिये क्या आज्ञा है, मैं भी भागवत में ही घुसकर रहूँ ?"

नारदजी ने कहा— 'यह बात मेरे बड़े भाई इन सनतकुमारों से पूछो, मेरे आचार्य गुरु, शिक्षक ये ही हैं।"

भक्ति यह सुनकर कुमारों की ओर देखने लगी उसकी जिज्ञासा को समझकर कुमारों ने कहा—"देवि ! हम आपको रहने का स्थान बताते हैं। भागवत में तो भगवान् विराजमान ही हैं। रसास्वादन पृथकत्व को एकत्व करने में होता है। इसलिये अब तुम किसी एक के यहाँ न रहकर समस्त भगवत् भक्तों के हृदयों में निवास करो। अब तुम देशकाल, वर्ण, जाति की परिधि को छोड़ दो। भक्त कहीं का भी क्यों न हो, किसी वर्ण जाति का क्यों न हो, किसी काल में भक्ति क्यों न करता हो, तुम उसके ही मन मन्दिर में जाकर रहो। तुम्हारे आते ही उसे भागवती कथा की जिज्ञासा होगी, वह कथा सुनेगा, कथा रस को तुम गाढ़ा करके उसकी प्रभु की पावन प्रतिमा बनाकर मन मन्दिर में स्थापित करोगी, तो समस्त भक्तों का अन्तःकरण तुम्हारे सान्निध्य से जगमग-जगमग करने लगेगा। तुम्हारे निवास से उनका हृदय आनन्द से जगमगा उठेगा। क्योंकि भागवत का अर्थ तो आपके ही द्वारा प्रकाशित होता है। आप संसार के समस्त रोगों को हरने वाली और प्रभु प्रेम को प्रकाशित करने वाली हो। भक्तों के हृदयों में तुम सदा सुरक्षित रहोगी, वहाँ तुम्हारा कोई कुछ भी बिगाड़ न सकेगा, अतः धैर्य धारण करके तुम उसी निरापद स्थान में निवास करो।"

भक्ति ने कहा—"कलिकाल तो अपना प्रभाव डालेगा ही मुझे वहाँ भी पीड़ा तो पहुँचावेगा ही।"

कुमारों ने दृढ़ता से कहा—"कलिकाल भले ही संसार भर पर अपना प्रभाव डालने में समर्थ हो उसके दोष चाहे कितने भी

प्रबल क्यों न हो। किन्तु वहाँ तुम्हारी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देख सकता।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुमारों की आज्ञा पाकर भक्ति देवी तत्काल संसार के समस्त भक्तों के हृदयों में जाकर रहने लगी। तभी से भक्तों का उत्कर्ष बहुत बढ़ गया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी हम तो देखते हैं जो भक्त होते हैं उनका उत्कर्ष सबसे न्यून होता है भक्त प्रायः निर्धन होते हैं उन्हें समय पर भोजन भी नहीं मिलता। सदा उन्हें शरीरोपयोगी वस्तुओं का अभाव ही बना रहता है अभी से नहीं सदा से यही परम्परा चली आयी है भगवान् के परम भक्त होते हुए भी सुदामा कितने निर्धन थे। दोनों समय को भोजन भी नहीं जुटता था।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! उत्कर्ष धन से ही होता है क्या? मैं आपकी इस बात को मानता हूँ, कि भक्त प्रायः धन रहित ही होते हैं, किन्तु सबसे बड़े धनी वे ही हैं जिनके धन श्यामसुन्दर हैं। लक्ष्मी तो उन श्रीहरि की चेरी है जब पति ही वश में आ गया, तो पत्नी को तो वहाँ आना ही पड़ेगा। भक्तों के हृदय में भक्ति निवास करती है वहाँ विवश होकर भगवान् को भी आना ही पड़ता है। जिसके हृदय में भगवान् आ गये, वही सबसे बड़ा धनी है। वही यथार्थ में धन्य है। भक्ति महारानी के पास एक कच्चे सूत का धागा है उसमें ऐसा कोई मन्त्र है, कि भगवान् अपने धाम को तुरन्त छोड़कर भक्तों के हृदय में आ जाते हैं और उस भक्तिसूत्र से सदा के लिये ऐसे बँध जाते हैं कि फिर जाने का नाम तक नहीं लेते।"

सनकादि कुमार अपने नारदादि श्रोताओं को सुना रहे हैं—"समुपस्थित श्रोताओ! आपने भागवत की महिमा प्रत्यक्ष देख ली। यह भागवत भगवान् का साक्षात् सगुण स्वरूप

ही है। यह वाणी से प्रकट होने वाला और कानों द्वारा हृदय की ओर गमन करने वाला है। इस कल्पवृक्ष का आश्रय लेने से, वाङ्मय स्वरूप के श्रवण करने से इस मधुर सुखद विषय के मनन करने से सुनने वाला, और सुनाने वाला, वक्ता श्रोता दोनों का ही कल्याण है, दोनों ही साधारण पुरुष न रहकर विशिष्ट व्यक्ति बन जाते हैं, दोनों ही अपने इष्ट में तन्मय हो जाते हैं, दोनों को ही श्रीकृष्ण की समता प्राप्त हो जाती है, अतः इस सुखकर सुलभ सर्वोपयोगी साधन को छोड़कर अन्य कायक्लेश पहुँचाने वाले साधनों में श्रम करना समय को व्यर्थ नष्ट करना ही है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वहाँ कथा सुनने को तो सबके सब भक्त ही आये थे, सनकादि कुमारों की आज्ञा पाकर जब अनेक रूप रखकर भक्ति सबके हृदयों में बैठ गयी, तो फिर भगवान् अपने लोक में टिक ही कैसे सकते हैं, भक्ति के आते ही भगवान् भी वैकुण्ठ छोड़कर वहाँ आ गये। अब भगवान् जैसे उस कथा में प्रकट हुए उस पुण्य प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

मुनिनि मध्य महँ आइ भक्ति बोली मधुबानी।
कृपा कृपामय ! करी कथा महिमा प्रकटानी॥
कलि दावानल जरी—कथामृत प्याइ जिबाई।
वास करन थल विमल दया करि देउ दिखाई॥
बोले मुनि—मनहर सुखी ! प्रेम प्रकाशित करहु नित।
भजन निरत भगवत भगत ! वास करो तिनि हिय सतत॥

—:—

नारदादि भक्तों के मध्य भगवान् का प्राकट्य

(११)

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥*
(श्री भा० ३ स्क० २५ अ० ३५ श्लो०)

छप्पय

मुनिनि वचन सुनि तुरत भक्ति भक्तनि अपनाई ।
तिनि हिय महँ बसि अमल अलौकिक आभा आई ॥
भक्तिसूत्र महँ बँधे तहाँ बरबस प्रभु आये ।
मोर मुकुट पट पीत सजल घन नभ जिमि छाये ॥
कान कलित कुण्डल कनक, कोटि काम कमनीय कर ।
मुरलीधर सुखकर सुघर, छवि अधरनि रस हृदय हर ॥

---

*भगवान् कपिल अपनी माता देवहूति से कह रहे हैं—"माताजी ! जो मेरे भक्त परस्पर मे मिलकर मुझ भगवान् की ही प्रेमपूर्वक कथा कहते और सुनते हैं, वे मेरे मन्द मुसकानयुक्त मुख तथा अरुण नयन युक्त अति मधुर वरदायक दिव्य रूपों की प्रत्यक्ष झाँकी करते हैं, झाँकी ही नहीं करते उनसे अत्यन्त प्रेममयी मीठी-मीठी बातें भी किया करते हैं।"

कहीं-कहीं ऐसी प्रथा है, कि विवाह के दिन लड़की के मुख में एक सुपारी डाल देते हैं, आठ पहर वह उसके मुख में पड़ी रहती है, विवाह होने पर वह सुपारी निकाल कर कतर कर पान में रखकर दुल्हा को खिलायी जाती है, जिससे सदा वह अपनी दुलहिनि के वश में बना रहे। कहीं-कहीं वर को वश में करने को दूसरे मन्त्र-तन्त्र टोटका किये जाते हैं, वधू पक्ष के लोगों की कामना रहती है दुलहा अपनी बहू की ही बात माने उसका आदर करे उसको कठपुतली बना रहे, किन्तु वरपक्ष चाहते हैं लड़का अपनी स्त्री के ऊपर शासन करे। उसको डराये धमकाये उसकी बात न माने। जो ऐसा नहीं करते स्त्री की हाँ में-हाँ मिलाये रहते हैं, वह जहाँ जाती है, उसके पीछे-ही-पीछे लगे रहते हैं इन्हें लोग लुगाई का पिछलग्गू कहते हैं, स्त्रीजित कहकर उसकी लोक में और शास्त्रों में भी बड़ी हँसी उड़ायी गयी है। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा है जो स्त्रीजित हो उसे श्राद्ध में भोजन नहीं कराना चाहिये। सदा स्त्री के वश में रहने वाले की शास्त्रों में निंदा की है।

शास्त्रों ने भले ही निन्दा की हो, किन्तु यह प्रथा है बहुत पुरानी। राजा और ऋषि मुनियों की बात जाने दीजिये हमारे पुरातन पुरुष पुरुषोत्तम क्या कुछ कम स्त्रीजित हैं, वे लक्ष्मीजी की बात भले ही टाल देते हों, लक्ष्मीजी को चंचला होने की छूट उन्होंने भले ही दे दी हो, किन्तु वे भक्तिदेवी के तो सोलहू आने वश में हैं। जहाँ भक्ति जायगी, वहाँ भगवान् को जाना ही पड़ेगा, वे रुक नहीं सकते ठहर नहीं सकते। पता नहीं भक्तिदेवी को भगवान् ने जूठी सुपारी खा ली है या भक्ति ने ही उन पर कोई मंत्र-तंत्र जादू टोना कर दिया। जिस हृदय में भक्ति आ जायगी, वहाँ भगवान् का आना अनिवार्य है, ध्रुव है निश्चित है, अतः सबको चाहिये पहिले वे भक्ति को बुलाने का साधन करें। भक्ति

के आने से तो भगवान् आ ही जायँगे, क्योंकि भक्ति ने भगवान् को कच्चे धागे से बाँध रखा है। यह ऐसा बन्धन है कि किसी भी उपाय से छूट नहीं सकता।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! सनकादि महर्षियों के कहने से भक्ति देवी जब समुपस्थित कथा श्रोता भक्तों के हृदयों में प्रवेश कर गयीं, वहाँ विराजमान हो गयीं, तो वहाँ वैकुण्ठ में भगवान् का सिंहासन हिला। भगवान् अब अपने लोक में रह न सके, वे तुरन्त एक ही छलांग में आनन्दवन के कथा स्थल में प्रादुर्भूत हो गये। भगवान् सबके सम्मुख अपने मनहर मनोहर वेष से प्रकटित हुए। वे बड़े-बड़े सुन्दर सुमनों की सुगन्धित घुटनों तक लटकने वाली वनमाला को धारण किये हुए थे। उनका श्रीअंग जल भरे मेघ के समान फूली हुई अलसी के खेत के समान, स्वच्छ नीले आकाश के समान, मयूर कंठ के समान श्यामवर्ण का था, वे तपे हुए सुवर्ण की कांति के समान झलमलाता हुआ अत्यन्त सूक्ष्म रेशमी पीताम्बर पहिने थे, कटि प्रदेश सुवर्णमयी कमनीय करधनी की लड़ियों से मंडित था, वे मस्तक पर मनहर मनोज्ञ मोरमुकुट धारण किये हुए थे। कानों में कनक के मकराकृत कुण्डल थे। उदार उदर त्रिवली से सुशोभित था। विशाल वक्षस्थल पर कांतिमयी कौस्तुभमणि अलंकृत थी। करोड़ों कामदेवों की कान्ति को कुत्सित और तिरस्कृत करने वाला उनका चैतन्यघन आनन्द रस से परिपूर्ण श्रीविग्रह था, वह मलयागिरि के अति सुगन्धित अत्यन्त शोभायुक्त चन्दन से चर्चित था। वे मधुर-मधुर मुरली बजा रहे थे, अपने भक्तों को आनन्दमयी ध्वनि से अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे। वे भक्ति के आकर्षण से आकर्षित तथा व्याकुल हुए अविलम्ब आये थे और सब हृदय में भक्ति को विराजमान देखकर वहीं घुस गये। वे भी अपनी कथा सुनने को समुत्सुक प्रतीत होते थे, उनके साथ कथा सुनने

के लोभी उनके प्रिय पार्षद, उद्धवादि वैष्णव भक्त भी गुप्त रूप से आये थे। भगवान् के आते ही उनकी जय जयकार से दशों दिशायें गूँजने लगीं। कोई शंख भेरी पणव आदि बाजे बजाते कोई सुन्दर सुगन्धित सुमन बरसाते अबीर गुलाल उड़ाते कोई सुख सरसाते हुए भगवान् के सुमधुर नामों को गाते। कोई पलक पाँवड़े बिछाते कोई अपना अलौकिक भक्तिभाव ही दर्शाते इस प्रकार भगवान् के पधारते ही सर्वत्र आनन्द का सागर उमड़ने लगा। उस समय सबके सब आनन्द में ऐसे विभोर बन गये कि उन्हें अपने पराये देह-गेह तथा संसार की सुधि ही न रही। सबको समान रूप से तन्मय देखकर नारदजी के हर्ष का ठिकाना न रहा। उनका श्रम सफल हुआ। ज्ञान वैराग्य की जरावस्था जाती रही भक्ति की आभा बढ़ गयी। भगवान् आकर सभी के हृदय में आसीन हो गये। वे अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए कुमारों को सम्बोधित करके कहने लगे—"हे महा मुनीश्वरगण! श्रीमद्भागवत सप्ताह माहात्म्य का जब इतना फल है तो भागवत सप्ताह का तो न जाने क्या फल होगा। कथा का प्रारम्भ करते ही मुझे इसका प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देने लगा। यहाँ तो कथा के प्रभाव से सभी तन्मय हो गये। ऋषि मुनि ज्ञानी भक्त तथा सदाचारियों की तो कौन कहे यहाँ के महामूर्ख दुष्ट चित्त वाले भी सब आनन्द सागर में परिप्लवित हो गये। यही नहीं यहाँ के पशु पक्षी तथा हिंसक पशु भी कथा के प्रभाव से अत्यंत निष्पाप तथा शान्त दान्त और समाधि सुख के भागी बन गये। अब तो मुझे पूर्ण निश्चय हो गया, कि संसार में विशेष कर इस कलिकाल में भागवत सप्ताह के समान दूसरा कोई भी सरल सुगम सरस सुखद सुन्दर साधन नहीं। यह सुख सरसावन परम पावन सुखप्रद साधन बताकर आपने मुझे अतिशय पावन बना दिया। पाप पहाड़ के ढाने के लिये यह सहस्रों शतघ्नियों के समान है।

आप सब कृपा के सागर हैं शरणागत प्रतिपालक हैं भक्त-वत्सल हैं, अत्यद्भुत अलौकिक आविष्कारक हैं आपने यह विश्व के कल्याण के निमित्त एक अलौकिक ही आविष्कार कर दिया। इससे तो अनेकों आदमियों का उपकार होगा। बहुतों का भव-बन्धन कट जायगा दुखियों का दुःख मिट जायगा।"

सनकादि मुनियों ने कहा—"नारदजी ! यह हमने कोई नया मार्ग प्रकट नहीं किया। सप्ताह की परम्परा तो प्राचीन है इससे बहुतों का उद्धार हो गया। जो भी भागवती कथा का श्रवण करेंगे उन सबके भवबन्धन कट जायँगे।"

नारदजी ने पूछा—"इस सप्ताह श्रवण के अधिकारी कौन हैं ? कौन-कौन से पाप इस सप्ताह यज्ञ से कट सकते हैं ?"

कुमारों ने कहा—"श्रीमद्भागवत सप्ताह श्रवण के सभी नर-नारी अधिकारी हैं सभी प्रकार के पातक उप पातक महा पातक इसके श्रवण से कट जाते हैं। जो निरन्तर पशु-पक्षी मछली आदि जीवों को मारते रहते हैं, दुराचार में निरत रहते हैं कुमार्ग में सदा फँसे रहते हैं, क्रोध रूपी अग्नि में निरन्तर जलते रहते हैं अर्थात जो क्रोध की मूर्ति ही हैं। कुटिलता ही करते रहते हैं, काम वासना से दग्ध रहते हैं, असत्य भाषण करने वाले पिता से द्वेष करने वाले उनसे कटु वचन बोलने वाले तृष्णा में सदा तड़फड़ाते रहने वाले, चारों वर्ण तथा चारों आश्रमों के धर्म से दूर रहने वाले। स्वयं जैसे नहीं हैं वैसा अपने को प्रकट करने वाले, दूसरों का अभ्युत्थान-उन्नति देखकर जलने वाले, अन्यों के अभ्युदय से ईर्ष्या करने वाले तथा दूसरों की हिंसा करने वाले ये सभी पापी सप्ताह यज्ञ के द्वारा पावन बन जाते हैं।

छोटे-मोटे पातक उप पातकों की तो बात ही पृथक है। शास्त्रों में सबसे बड़े पाँच ही महापातक बताये हैं। ब्राह्मण की

हत्या करना, द्विज होकर सुरापान करना, सुवर्ण की चोरी करना और अपने से बड़े गुरुस्थानीय पूज्य पुरुषों की पत्नी का समागम करना तथा इन महापातकियों से संसर्ग बनाये रहना इनके साथ भोजन शयन करना ये ही महापातक हैं। शास्त्रों में इन लोगों की निष्कृति नहीं बतायी है ऐसे महापातकी पुरुष भी यदि श्रद्धापूर्वक सविधि भागवत सप्ताह श्रवण करें तो वे महापातकों से मुक्त हो जाते हैं छल कपट करके कार्य करने वाले सबके साथ क्रूरतापूर्वक व्यवहार करने वाले, भूत, प्रेत पिशाचों के समान दयाहीन कार्य करने वाले, ब्राह्मण के धन को अन्याय से खाकर उसके द्वारा शरीर पुष्ट करने वाले, महाव्यभिचारी, दुष्ट स्वभाव वाले शरीर के द्वारा हिंसा व्यभिचार आदि पातक करने वाले, वाणी से अनृत परुष तथा दूसरों को उद्वेग कारक वचन बोलने वाले, मन से सदा दूसरों का अशुभ चिंतन करने वाले तथा मनसा वाचा कर्मणा हठपूर्वक पाप करने वाले, सदा अधर्मपूर्वक दूसरों के ही द्रव्य से पलकर परिपुष्ट होने वाले, मलिन मन वाले तथा खोटे विचार वाले दुष्ट पुरुष भी इस कलिकाल में श्रद्धापूर्वक सप्ताह सुनकर पापों से मुक्त हो जायँगे।"

शौनकजी ने पूछा—"तो सूतजी! अब रहे कौन? सभी पातकी उपपातकी तथा महापातकी तो आ गये, तब तो सभी सप्ताह श्रवण करके मुक्त हो जायँगे, यह तो बड़ा सरल उपाय है। जीवन भर पाप करते रहें, मरते समय सप्ताह सुन लें, फिर तो सभी मुक्त हो जायेंगे?"

सूतजी बोले—"महाराज! सभी की सप्ताह श्रवण में श्रद्धा नहीं होती। जो पाप कर्मों में निरत हैं, उनकी सप्ताह श्रवण में रुचि ही नहीं होती। सप्ताह पूर्वजन्म के बड़े भाग्य से सुनने को मिलता है, किसी महत् पुरुष का सौभाग्य से संग हो जाय, तभी ऐसा पुण्य अवसर आता है इस जीवन में न भी सुन सके और

कोई कृपालु उसके मरने पर भी उसके निमित्त सप्ताह करा दे, तो उसका भी उद्धार हो जाता है, इस विषय में एक अति प्राचीन इतिहास है, मैं उसे आपको सुनाता हूँ आप इस परम पुण्यपद, भागवत सप्ताह माहात्म्य को श्रवण करें।"

छप्पय

भक्त वत्सल भगवान् विराजे भक्तनि हिय महँ।
बढ़यो अधिक अनुराग प्रेम राधा प्रियतम महँ॥
नारद बोले—धन्य भागवत महिमा भारी।
सुनि पापी के तरे? कुमारनि कथा उचारी॥
दयाहीन दम्भी दलित, पशु, पच्छी, पापी पतित।
होत सुनत सब अघ रहित, सुनहु कथा आचरज जुत॥

—०—

धुन्धुलीपति आत्मदेव की कथा

[१२]

ततः पाहि महाभाग पुर्वैः सह गतं तमः ।
यथा तरेम दुस्तारं प्रजया तद्विधेहि नः ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १४ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

तुङ्ग भद्र के तीर नगर इक सुन्दर भारी ।
आत्मदेव द्विज बसहि धरम रत धनी भिखारी ॥
नारि 'धुन्धुली' तासु सुन्दरी हठी कलह प्रिय ।
दंपति संपति हीन दुखित अति तिनि नित नित हिय ॥
सतति हित धन धरम महँ, व्यय करि जब नहिँ फल लह्यो ।
ग्लानि भई अति खिन्न चित्त, मरन हेतु बन महँ गयो ॥

संतति की इच्छा प्राणिमात्र में स्वाभाविक है। यह इच्छा बलवती न हो तो यह अनादि अनन्त सृष्टि अविच्छिन्न भाव से सदा कैसे चलती रहे, जब पशु-पक्षी भी अपने पुत्रों के लिये प्राण देते हैं प्राण पण से उनका पालन-पोषण करते हैं, तो जो मनुष्य सबसे श्रेष्ठ प्राणी समझा जाता है उसकी तो बात ही

---

* महर्षि अंगिरा से चित्रकेतु कह रहे हैं—' भगवन् ! दुःख सागर में डूबते हुए मेरी रक्षा कीजिये और मेरे पूर्वजों की रक्षा कीजिये। जिसके पुत्र नहीं उसकी गति नहीं कोई ऐसा उपाय कीजिये जिससे मेरे संतान हो जाय जिसके द्वारा परलोक मे प्राप्त दुस्तर नरक से मैं पार हो जाऊँ। अर्थात् संतान के न होने से मुझे नरक न जाना पड़े।"

क्या ? जिस स्त्री के हृदय में संतति की चाह नहीं होती, जो अपनी सूनी गोद में एक छोटा-सा मुनमुना-सा शिशु खिलाने को व्याकुल नहीं बनी रहती, जो अपने स्तनों के दूध को अपनी कोख से उत्पन्न पुत्र को पिलाने के लिये समुत्सुक नहीं रहती, वह या तो घोर राक्षसी है या सर्पिणी है। सर्पिणी अपने पुत्रों को खा अवश्य जाती है, किन्तु सन्तान उत्पन्न करने की कामना तो उसके भी मन में रहती है। सन्तान की कामना तो भगवान् ने ऐसी बना दी है, कि नर-नारी चाहें जितना प्रयत्न करें यह सृष्टि रुकेगी नहीं। यदि नर नारियों की इच्छा के ऊपर यह बात रहती तो अब तक यह सृष्टि का प्रभाव कब तक शांत हो गया होता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! सनकादि मुनियों ने जो सप्ताह यज्ञ की महिमा सम्बन्धी इतिहास नारदादि मुनियों को सुनाया था उसे ही मैं आपसे कहता हूँ—

"दक्षिण देश में एक तुंगभद्रा नाम की नदी है, तुंगा और भद्रा दो पृथक् नदियाँ हैं, दोनों जब मिल जाती हैं तो तुंगभद्रा कहलाती है। उस तुंगभद्रा के तट पर एक अत्यन्त ही सुन्दर रमणीय नगर था। नगर बड़ा था चारों वर्ण के लोग उसमें सुख-पूर्वक निवास करते थे। उसी नगर में एक आत्मदेव नाम का ब्राह्मण रहता था। वह कर्मकांडी ब्राह्मण श्रौत, स्मार्त सभी कर्मों में कुशल था, तेजस्वी भी था, साथ ही वेदों का ज्ञाता था। ब्राह्मण होकर भी वह धनी था। धन वृद्धि के दो ही उपाय हैं या तो व्यापार या भिक्षा। वह ब्राह्मण भिक्षा वृत्ति से ही निर्वाह करता था।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! व्यापार से धनी होना तो युक्ति युक्त भी है। भिक्षावृत्ति से मनुष्य धनी कैसे हो सकता है ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"महाराज ! व्यापार की तो कोई

धुन्धुलीपति आत्मदेव की कथा

[१२]

ततः पाहि महाभाग पूर्वैः सह गतं तमः ।
यथा तरेम दुस्तारं प्रजया तद्विधेहि नः ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १४ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

तुङ्ग भद्र के तीर नगर इक सुन्दर भारी ।
आत्मदेव द्विज बसहि परम रत धनी भिखारी ॥
नारि 'धुन्धुली' तासु सुन्दरी हठी कलह प्रिय ।
दंपति संपति हीन दुखित अति तिनि नित नित हिय ॥
सतति हित धन धरम महँ, व्यय करि जब नहिँ फल लह्यो ।
ग्लानि भई अति खिन्न चित्त, मरन हेतु बन महँ गयो ॥

संतति की इच्छा प्राणिमात्र में स्वाभाविक है। यह इच्छा बलवती न हो तो यह अनादि अनन्त सृष्टि अविच्छिन्न भाव से सदा कैसे चलती रहे, जब पशु-पक्षी भी अपने पुत्रों के लिये प्राण देते हैं प्राण पण से उनका पालन-पोषण करते हैं, तो जो मनुष्य सबसे श्रेष्ठ प्राणी समझा जाता है उसकी तो बात ही

---

* महर्षि अंगिरा से चित्रकेतु कह रहे हैं—'भगवन् ! दुःख सागर में डूबते हुए मेरी रक्षा कीजिये और मेरे पूर्वजों की रक्षा कीजिये। जिसके पुत्र नहीं उसकी गति नहीं कोई ऐसा उपाय कीजिये जिससे मेरे संतान हो जाय जिसके द्वारा परलोक में प्राप्त दुस्तर नरक से मैं पार हो जाऊँ। अर्थात् संतान के न होने से मुझे नरक न जाना पड़े।"

क्या ? जिस स्त्री के हृदय में संतति की चाह नहीं होती, जो अपनी सूनी गोद में एक छोटा-सा मुनमुना-सा शिशु खिलाने को व्याकुल नहीं बनी रहती, जो अपने स्तनों के दूध को अपनी कोख से उत्पन्न पुत्र को पिलाने के लिये समुत्सुक नहीं रहती, वह या तो घोर राक्षसी है या सर्पिणी है। सर्पिणी अपने पुत्रों को खा अवश्य जाती है, किन्तु सन्तान उत्पन्न करने की कामना तो उसके भी मन में रहती है। सन्तान की कामना तो भगवान् ने ऐसी बना दी है, कि नर-नारी चाहें जितना प्रयत्न करें यह सृष्टि रुकेगी नहीं। यदि नर नारियों की इच्छा के ऊपर यह बात रहती तो अब तक यह सृष्टि का प्रभाव कब तक शांत हो गया होता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! सनकादि मुनियों ने जो सप्ताह यज्ञ की महिमा सम्बन्धी इतिहास नारदादि मुनियों को सुनाया था उसे ही मैं आपसे कहता हूँ—

"दक्षिण देश में एक तुंगभद्रा नाम की नदी है, तुंगा और भद्रा दो पृथक् नदियाँ हैं, दोनों जब मिल जाती हैं तो तुंगभद्रा कहलाती है। उस तुंगभद्रा के तट पर एक अत्यन्त ही सुन्दर रमणीय नगर था। नगर बड़ा था चारों वर्णों के लोग उसमें सुख-पूर्वक निवास करते थे। उसी नगर में एक आत्मदेव नाम का ब्राह्मण रहता था। वह कर्मकांडी ब्राह्मण श्रौत, स्मार्त सभी कर्मों में कुशल था, तेजस्वी भी था, साथ ही वेदों का ज्ञाता था। ब्राह्मण होकर भी वह धनी था। धन वृद्धि के दो ही उपाय हैं या तो व्यापार या भिक्षा। वह ब्राह्मण भिक्षा वृत्ति से ही निर्वाह करता था।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! व्यापार से धनी होना तो युक्ति युक्त भी है। भिक्षावृत्ति से मनुष्य धनी कैसे हो सकता है ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"महाराज ! व्यापार की तो कोई

सीमा भी है, व्यापार में तो कभी हानि भी हो जाती है, भिक्षा में तो लाभ-ही-लाभ है। घर-घर से अन्न के कण माँगने का ही नाम भिक्षा नहीं है। दूसरों के धन को उनकी इच्छा से माँग कर ले आने वाली सभी वृत्ति भिक्षा वृत्ति ही है उसमें भी युक्ति चाहिये। कोई यज्ञ के नाम से माँगकर लाते हैं, कोई पाठशाला, गोशाला, धर्मशाला, अतिथिशाला, औषधिशाला और न जाने किन-किन शालाओं के नाम से धन लाते हैं। ये जितनी बड़ी-बड़ी संस्थाओं के लोग इधर-से-उधर ठाट बाट से घूमते हैं, नित्य ही लाखों रुपयों का चकना चूर करते हैं ये सब भिक्षावृत्ति से ही तो कमाते हैं। तीर्थ पुरोहितों की इतनी बड़ी-बड़ी कोठियाँ भिक्षा से ही तो बनती हैं, ये जितने मठ, मन्दिर, आश्रम चलते हैं भिक्षा के सहारे से ही तो चलते हैं। दूर की बात छोड़ दीजिये, साधारण गृहस्थियों के लिये तो दश आदमियों को खिलाना ही कठिन हो जाता है दिन भर व्यापार में ही लगे रहते हैं। आप कौन-सा व्यापार वाणिज्य करते हैं, नित्य लाखों लोगों का भोजन होता है, आपको निर्धन कौन कहेगा, यह सत्य है आप किसी के घर भिक्षा माँगने नहीं जाते किन्तु आपके तप के प्रभाव से बैठे ही बैठे बिना माँगे, अयाचित भिक्षा आ जाती है, आपकी वृत्ति भिक्षा ही तो कही जायगी। ऐसा ही वह आत्मदेव ब्राह्मण भिक्षावृत्ति वाला विप्र था।"

शौनकजी बोले—"हाँ सूतजी! समझ गये अब आगे की कथा कहिये।"

सूतजी बोले—"हाँ, तो महाराज जी! आपका रामजी भला करें, उस ब्राह्मण की स्त्री का नाम था धुन्धुली। वह रंग रूप में देखने भालने में तो सुन्दर थी, उसका कुल भी उत्तम था, किन्तु एक ही उसमें बड़ा दोष था, वह अपनी हठ की बड़ी पक्की थी, जिस बात की हठ पकड़ लेती, फिर चाहे ब्रह्माजी भी क्यों न

आ जायँ, वह उससे हटने वाली नहीं थी। बातें बनाने में बड़ी विदुषी, जब तक चार घर में जाकर लड़ाई झगड़ा न कर आवे तब तक उसे भोजन नहीं पचता था। जिसके घर गयी, बात बनाने लगी तो बनाते ही रही, किसी को एक छदाम देना नहीं, किसी से सीधे बोलना नहीं, जो भी सामने पड़ जाय उसी से उलझ जाय। ब्राह्मण को उसका यह स्वभाव अच्छा नहीं लगता था, किन्तु करे भी तो क्या करे। धर्म का बन्धन था, परलोक का भय था, कोई काठ का जूआ तो था नहीं, जब चाहो कन्धे से उतारकर फेंक दो, अग्नि को साक्षी देकर ब्राह्मणों के सम्मुख धर्मपूर्वक उसने विवाह किया था, धर्म से वह ब्राह्मण की अर्धाङ्गिनी थी। अपने आधे अंग में खुजली हो जाय या अर्धाङ्ग हो जाय, तो आधे अंग को कोई काटकर तो फेंक नहीं देता, भाग्यवश जैसी भी पत्नी मिल जाय, उसी के संग जीवन भर निभाना होगा। स्त्री-पुरुष का तो जीवन मरण का सम्बन्ध है। इसीलिये ब्राह्मण उसके किसी काम में हस्तक्षेप नहीं करता। उसकी हाँ में हाँ मिलाता रहता। इससे वे गृह कलह से बचे थे लड़ाई तो तभी होती है, जब स्त्री कुछ कहे। पुरुष कुछ कहे। जब एक ने अपनी इच्छा दूसरे पर छोड़ दी तो, एक हाथ से ताली थोड़े ही बज सकती है। स्त्री दिन को रात कह दे, तो ब्राह्मण उसे तारे बताने लगे। वह रात को दिन कह दे, तो आत्मदेव सूर्य दिखाने लगे। ऐसी दशा में कलह का तो कारण ही नहीं। वैसे धुन्धुली घर के कार्यों में बड़ी प्रवीण थी। रोटी बड़ी सुन्दर बनाती, दाल भात, साग सभी सुन्दर स्वादिष्ट, बनाती, बर्तन स्वयं मलती और उन्हें ऐसे चमका कर झाड़ पोंछकर रखती कि मन प्रसन्न हो जाय घर को झाड़ बुहार कर स्वच्छ रखती। सारांश यह कि घर के कार्यों में प्रमाद न करती घर के कामों को करके तब लड़ाकू स्त्रियों से लड़ने जाती। लड़ते समय पानी की झारी पास में रखती,

पानी पी पीकर लड़ती।

ब्राह्मण के पास धन की कोई कमी नहीं थी। स्त्री भी सुन्दरी थी। पति से वह कलह भी नहीं करती ब्राह्मण की सभी सुविधाओं का ध्यान रखती। भरसक उन्हें असन्तुष्ट न करती, इस कारण ब्राह्मण को कोई शारीरिक कष्ट नहीं था, किन्तु उन्हें एक मानसिक कष्ट बड़ा भारी था, इनके कोई सन्तान नहीं थी। वे सोचते थे मेरे इतना धन है मेरे पीछे इसका कोई उपभोग करने वाला नहीं। मेरे पितर स्वर्ग में बैठे आशा लगा रहे होंगे कि हमारे वंश में कोई होगा जो हमें अन्न जल देगा, हमारे निमित्त श्राद्ध तर्पण करेगा। जब तक मैं हूँ पितरों का पिंड करता हूँ, जल देता हूँ मेरे पीछे वे बिना अन्न जल के रह जायेंगे वंश में कोई न रहने से वे नरकों में धकेल दिये जायँगे। इसलिये जैसे-तैसे पुत्री या पुत्र कोई भी हो जाय तो हम अपुत्री तो न कहावें। पितरों को नरक तो न भोगना पड़े। इसके लिये मैं यथासाध्य प्रयत्न करूँगा।"

यह सोचकर वे ज्योतिषी तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों से पूछने लगे। किसी ने कहा--"दीन दुखियों को भोजन कराओ उनके हृदय से निकले आशीर्वाद से आपके सन्तान हो जायगी किसी ने कहा-गौदान करो किसी ने कहा—अन्नदान, सुवर्णदान, वस्त्रदान तथा पृथ्वीदान करो।"

जिसने जो बताया, ब्राह्मण ने वही दान किया किन्तु उसके सन्तति नहीं हुई, नहीं हुई। दान करते-करते आधा धन समाप्त हो गया, किन्तु सन्तान के कोई लक्षण नहीं इससे उसे भारी निराशा हुई।

उन्होंने सोचा--"जब सन्तान ही नहीं तब जैसा ही घर वैसा ही वन। घर की शोभा तो बच्चों से ही है, जिस घर में हँसते हुए किलकारियाँ मारते हुए छोटे-छोटे बच्चे नहीं

रुनझुन करती हुई लजाती मुसकराती बहुएँ नहीं, उस घर में और श्मशान में अन्तर ही क्या ? इसलिये या तो वन में चलकर संतान के निमित्त घोर तप करूँगा, या आत्महत्या करके इस शरीर को ही छोड़ दूँगा। ऐसा निश्चय करके वे ब्राह्मण बिना अपनी घरवाली से कहे बन की ओर चल दिये। ग्रीष्म काल था, प्रातःकाल ही सबेरे घर से निकल पड़े। चलते ही गये आगे बढ़ते ही गये। भगवान् भुवन भास्कर अपनी प्रचंड किरणों से प्राणियों को प्रतप्त करते हुए सिर के ऊपर आ गये। कभी इतना चलने का अभ्यास नहीं था, सुकुमार शरीर था, वे चलते-चलते थक गये, गरमी के कारण पृथ्वी जलने लगी, भूख और प्यास से उनका कंठ सूख गया। तृषा बलवती हो गयी सम्मुख एक सुन्दर स्वच्छ मनस्वियों के मन के समान निर्मल जल वाला सरोवर दिखायी दिया। किनारे पर ही वट का एक सघन वृक्ष था, उसकी छाया जल में पड़ रही थी। सरोवर का सुन्दर घाट बना था। ब्राह्मण देव सीढ़ियों से उतर कर जल के निकट गये। हाथ पैर धोये, प्यास तो लगी ही हुई थी, भर पेट जल पिया। जल पीने से तृषा शान्त हुई भूख भी मिट गयी, चित्त शान्त हुआ थके तो थे ही। जल के निकट ही वट की छाया थी। सन्तान के दुःख से दुखी उदास मन, घुटने पर कुहनी टेक कर हथेली पर ठोढ़ी रखकर बैठ गये। उनका मुख मलिन बना था, चिन्ता से चित चंचल था, आत्मग्लानि के कारण मुख उदास था, किंकर्त्तव्यविमूढ़ बने वे बड़ी वेला तक बैठे ही रहे।"

कुछ क्षण के पश्चात् वहाँ एक संन्यासी महात्मा आये। उनके तेजयुक्त मुख मंडल पर एक अलौकिक आभा थी। वे देखने में बड़े दयालु तथा सुहृदय प्रतीत होते थे उन्होंने सीढ़ियों से उतर कर हाथ पैर धोये जलपान किया और अपने काषाय वस्त्र से हाथ पैर और मुख पोंछने लगे। उसी समय ब्राह्मण ने

उठकर उनके चरणों में प्रणाम किया, पद रज मस्तक पर चढ़ाई और एक विषाद मिश्रित दीर्घ निःश्वास छोड़कर सिर नीचा करके महात्मा के सम्मुख उदास मन खड़े हो गये। उनके नेत्र अश्रुओं से भरे थे और वे बह रहे थे।

महात्मा तो कृपालु होते ही हैं, दूसरों के दुःख को देखकर उनका नवनीत के समान हृदय पिघल ही जाता है। ब्राह्मण को दुखी देखकर अत्यन्त ही मधुर वाणी में महात्मा ने पूछा—"सौम्य! तुम इतने दुखी क्यों हो, तुम्हारी आँखो में आँसू क्यों हैं तुम क्यो रो रहे हो?"

रोते-रोते ब्राह्मण ने कहा—"भगवन्! मैं अपने भाग्य के लिये रो रहा हूँ?"

सान्त्वना देते हुए संन्यासी बोले—"बात तो बताओ, अपने दुःख का कारण तो बताओ, मुझसे अब न लजाओ। जो तुम्हें चिन्ता हो उसे अविलम्ब सुनाओ। यथाशक्ति मैं तुम्हारे दुःख को दूर करने का प्रयत्न करूँगा।"

ब्राह्मण ने कहा—"प्रभो! क्या कहूँ कुछ कहते नहीं बनता अपना मुझे उतना दुःख नहीं है मुझे अपने पितरों का दुःख है मेरे पितरों को शीतल पानी पीने को नहीं मिलता।"

संन्यासी ने कहा—"तुम तो पहेली-सी ही कह रहे हो, स्पष्ट बात बताओ।"

ब्राह्मण बोले—"स्वामिन्! मेरे कोई सन्तान नहीं। अपने पितरों को जब मैं जल देता हूँ, तो वे सोचते हैं अभी तो यह हमें जल दे रहा है, इसके पश्चात् हमारा पिंड जल समाप्त हो जायगा, इस चिंता से उनकी श्वाँसे गरम हो जाती हैं उन गरम श्वाँसों से अंजलि का सलिल भी गरम हो जाता है गरम आँसू भी उसमें मिल जाते हैं, उसी गरम जल को वे पीते हैं। किसी ब्राह्मण को अपने यहाँ भोजन करने को कहता हूँ, तो मेरे सम्मुख हाँ-हाँ कर

देते हैं, किन्तु पीठ पीछे कहते हैं—"अपुत्री का अन्न कौन खाय ?" किसी को आग्रहपूर्वक बुला भी लेता हूँ, तो वह संकोच वश अनिच्छापूर्वक अप्रसन्नता से भोजन करता है। देवताओं को बलि देता हूँ, तो वे भी सोचते हैं पुत्र बिना तो स्वर्ग मिलता नहीं वे भी प्रसन्नतापूर्वक बलि ग्रहण नहीं करते।"

संन्यासी ने पूछा—"फिर यहाँ किस लिये आये हो ?"

ब्राह्मण ने कहा—"घर तो गृहणी से होता है। सार्थक गृहणी वही है जो सन्तान वाली हो। जिस घर में सन्तान नहीं वह सुनसान घर है, ऐसे बाल-बच्चों से विहीन घर को धिक्कार है, धन की शोभा भोग से है, भोग शोभा देता है संतान के साथ। संतानहीन धन मृतक के हाथ में धरे सुवर्ण के समान है ऐसे धन को बारम्बार धिक्कार है। जिस कुल में पुत्र रूप प्रदीप नहीं उस अंधकारपूर्ण कुल को धिक्कार है। जिस स्त्री के सन्तान नहीं उस स्त्री को धिक्कार है और जिस पुरुष के पुत्र न हो उस पुरुष को धिक्कार है। पुत्रहीन पुरुष संतान के प्रेम सुख से सदा वंचित रहता है।

संन्यासी ने पूछा—"तुम्हारे कोई सवत्सा गौ नहीं है ?"

ब्राह्मण बोला—"महाराज ! गौ तो है किन्तु मेरे यहाँ आकर किसी गौ ने बच्चा नहीं दिया। छोटी गौ की बच्ची को पाला, वह बाँझ निकल गयी, गर्भवती को लाया, उसका गर्भ गिर गया। दूसरों के लिये जिसने चार-चार पाँच-पाँच बच्चे दिये मेरे यहाँ आकर वह कभी ग्याभन ही न हुई मेरे दुर्भाग्य से गौ भी ऐसी हो जाती हैं।"

संन्यासी ने पूछा—"तुमने फल वाले वृक्षों को नहीं लगाया ?"

ब्राह्मण बोला—"लगाये क्यों नहीं महाराज ! मैंने सब कुछ किया, जिसने जो बताया वही किया। दूर-दूर से छाँट-छाँटकर वृक्ष लाया, जो वृक्ष मैंने लाकर लगाया वह बड़ा तो हो गया

किन्तु उस पर फल फूल कभी नहीं लगा। एक भी फलवान् वृक्ष मेरे हाथ से नहीं लगा।" यही नहीं बाहर से जो फल लाकर मैं घर में रखता हूँ, वे सड़ जाते हैं गल जाते हैं तथा उनमें कीड़े पड़ जाते हैं। अब आप ही सोचें, इस प्रकार सन्तान हीन जीवन से मुझे क्या सुख है ? इससे तो मर जाना ही अच्छा।"

संन्यासी ने कहा—"इतने विद्वान् होकर तुम विप्रवर ! कैसी मूर्खों की-सी बातें कर रहे हो। अरे, आदमी रहेगा तो जीवन में अनेक कल्याण प्रद कार्य देखेगा।"

अत्यन्त ही दीनता के स्वर में ब्राह्मण ने कहा—"प्रभो मेरा कल्याण तो पुत्र प्राप्ति में ही है। बिना सन्तान के मुझे शान्ति न मिलेगी मुझे सुत के बिना सम्पूर्ण संसार सूना-ही-सूना दृष्टिगोचर हो रहा है। मुझ अभागे के जीवन से लाभ ही क्या जब मैं देवता और पितरों को प्रसन्न न कर सका, गोदी में पुत्र को बिठाकर उसका मुख न चूम सका। अपुत्री को तो वैसे भी गति नहीं होती।" इतना कहकर ब्राह्मण उन संन्यासी के चरणों पर गिर पड़ा और फूट-फूट कर रोने लगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! उस ब्राह्मण के करुणा क्रन्दन को सुनकर तथा उसे अत्यन्त दुःखातुर शोकमग्न देखकर संन्यासी का हृदय पसीज गया, वे दया के वशीभूत होकर ब्राह्मण को सकरुणदृष्टि से निहारने लगे। वे महात्मा शुभाशुभ चिन्हों को जानने वाले, सामुद्रिक शास्त्र के ज्ञाता तथा त्रिकाल दर्शी थे। उन्होंने ध्यानपूर्वक विप्र के ललाट की रेखाओं का अध्ययन किया, उनके शुभाशुभ फलों को जान लिया और फिर अत्यन्त प्रेम भरी वाणी में आत्मदेव से बोले—"विप्रवर ! भाग्य की रेख पर मेख मारने वाला संसार में आज तक कोई उत्पन्न नहीं हुआ। मैंने तुम्हारी भाग्य-की रेखाओं को पढ़ लिया है।"

ब्राह्मण ने पूछा—"क्या पढ़ा भगवन्! आपने ?"

संन्यासी बोले—"देखो, जो वस्तु न मिलने वाली हो उसके लिये प्रयत्न करना प्रक्षिप्तों के प्रलाप के सदृश है। तुम्हारे भाग्य में पुत्र है ही नहीं। इस जन्म की कौन कहे सात जन्मों तक तुम्हारे सन्तान नहीं हो सकती, चाहे तुम एड़ी का पसीना चोटी तक क्यों न लगा दो। इसलिये मेरी बात मानो, इस दुराग्रह को छोड़ दो, सन्तान की आशा को हृदय से निकालकर फेंक दो। यह राक्षसी आशा ही प्राणों को संसार में इधर से उधर घुमाती फिरती है। बलवती कर्म की गति को कोई भी सती शूरमा व्यर्थ नहीं बना सकता। इसलिये धैर्य धारण करो, विवेक से काम लो त्याग वैराग्य का आश्रय ग्रहण करके इस संसार वासना का जड़ मूल से नाश कर दो।"

ब्राह्मण ने विनीत भाव से रोते-रोते कहा—"स्वामिन्! चाहे आप इसे मेरी मूर्खता कहें, अथवा अविवेक, मैं इस वासना को हृदय से निकाल नहीं सकता। चिरकाल की जमी वासना बड़ी बलवती होती है, मुझे जब तक पुत्र की प्राप्ति न होगी, तब तक न सुख होगा न शान्ति। मेरे विवेक वैराग्य सब कुण्ठित हो गये हैं।"

सूखी हँसी हँसते हुए संन्यासी ने कहा—"सोते को जगाया जा सकता है, किन्तु जो जागता हुआ भी सोने का अभिनय कर रहा है, उसे कोई कैसे जगावे ? जो कुछ जानता न हो ऐसे अज्ञ को दृष्टान्त देकर शास्त्र वचन कहकर समझाया जा सकता है, किन्तु जो स्वय शास्त्री है सब कुछ जानता है, उसे कोई क्या समझावे ?"

देखो, राजा सगर के साठ सहस्र सुत थे, वे उनको सदा क्लेश ही पहुँचाते रहते थे, नित्य नये उत्पात मचाते रहते थे। अन्त में वे कपिल भगवान् के कोपानल में अपने पापों के कारण

जल मरे। राजा अङ्ग ने पुत्र के लिये कितने प्रयत्न किये, यज्ञ कराये दान धर्म किये, अन्त में हुआ महा दुष्ट वेन, उससे उन्हें क्या सुख मिला उसके उत्पातों से दुखी होकर रात्रि में गुप्त रूप से राजपाट छोड़कर उन्हें वन को ही भागना पड़ा। इसलिये प्रिय आवश्यकता ही क्या है, पहिले कीच से शरीर को पोता जाय फिर उबटन लगाकर उसे धोया जाय। एक दिन तो इस संसार को विवश होकर छोड़ना ही पड़ेगा। जब छोड़ना निश्चित है अवश्यम्भावी है, तो फिर उसे अपने आप ही पहिले से ही क्यों न छोड़ दे। इसलिये हे विद्वन्! मेरी सम्मति में तो अब आपको सन्तान की आशा को हृदय से निकाल कर सदा के लिये फेंक देना चाहिये। शान्ति तो त्याग मे ही है, विषयों से विरक्त होकर भगवान् वासुदेव का चिन्तन कीजिये। त्याग में सुख ही सुख है। विवेक को न छोड़िये, बुद्धिमत्ता के साथ विचार कीजिये।"

अत्यन्त ही दुःख के साथ ब्राह्मण ने कहा—"प्रभो! मेरी बुद्धि कार्य नहीं करती। विवेक मुझे छोड़कर चला गया है। त्याग की बातें मुझे भाती नहीं हैं, वैराग्य की चर्चा सुहाती नहीं, आपकी बातें मेरी बुद्धि में आती नहीं हैं। सन्तान प्राप्ति की इच्छा ने मुझे अन्धा बना दिया है, इस प्रबल वासना ने मेरी विचार शक्ति को खो दिया है। मुझे तो पुत्र चाहिये पुत्र मेरे भाग्य में न भी हो तो आपको भाग्य को बदलना पड़ेगा। पुत्र प्रारब्ध में न भी हो तो देना पड़ेगा। भगवत् भक्त सब कुछ करने में समर्थ हो सकते हैं, वे विधि के लेख पर मेख मार करते हैं। आप सर्व समर्थ हैं, जैसे बने वैसे मुझे पुत्र दीजिये, नहीं तो आपके सम्मुख ही मैं प्राणों का परित्याग करता हूँ, आप मेरी इच्छा पूर्ण न करेंगे तो आपको ही ब्रह्महत्या लगेगी। संन्यास अब मुझे सूखा-सूखा प्रतीत होता है। ज्ञान, वैराग्य, विवेक तथा विरति की बातें नीरस दिखायी देती हैं, कोरे त्याग में क्या

रखा है, जब तक पुत्र सुख का अनुभव न किया। रोटी के एक टुकड़े के लिये घर-घर भीख माँगते फिरना इसमें कौन-सा सुख है। यथार्थ सुख तो उस गृहस्थाश्रम में ही है। जिसमें दस पाँच पुत्र हों पुत्रों के भी बहुत से पुत्र हों, सब आकर बाबा-बाबा कह कर लिपट जायँ। बहुएँ नित्य नयी स्वादिष्ट वस्तुएँ बनावें। घर भरा पूरा दिखायी दे चारों ओर सरसता छायी रहे। मुझे तो संसार में यही सर्वश्रेष्ठ सुख प्रतीत होता है, आप से जैसे बने तैसे मुझे सन्तान दीजिये।"

संन्यासी ने गम्भीरता के साथ कहा—"विद्वान्। तुम दुराग्रह कर रहे हो, पुत्र की लालसा ने तुम्हारे विवेक को खो दिया है। मैंने तुम्हें बार-बार बताया कि विधाता के विधान को विपरीत बनाने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। राजा चित्रकेतु ने महर्षि अंगिरा से ऐसा ही आग्रह किया था, ऋषि ने अपने तपोबल से पुत्र दिया, उस पुत्र से उसे कितना कष्ट उठाना पड़ा। इसी प्रकार तुम्हें भी अपनी हठ के लिये पीछे पछताना पड़ेगा। पुत्र सुख तुम्हारे भाग्य में नहीं है। पुत्र तुम्हें जैसे तैसे मिल भी जाय, तो उससे तुम्हें सुख न होगा।"

ब्राह्मण ने कहा—"चाहे मुझे उससे कुछ भी सुख न मिले चाहे वह मुझे नित्य उठकर सौ जूते क्यों न मारे, मुझे पुत्र दीजिये मैं अपुत्री होकर मरना नहीं चाहता।"

यह सुनकर महात्मा ने कुछ काल ध्यान किया और फिर अपनी झोली में से एक फल निकाल कर उसे देते हुए कहा—"अच्छी बात है, जब तुम्हारा पुत्र के लिये बहुत ही हठ है, तो मैं तुम्हें पुत्र देता हूँ यह मेरा मन्त्रों से अभिमन्त्रित फल है। इसे अपनी पत्नी को जाकर देना। यदि वह इसे खा लेगी तो निश्चय ही उसके पुत्र होगा। इस फल का प्रभाव अमोघ है, यह कभी व्यर्थ नहीं जा सकता।"

ब्राह्मण ने बड़ी श्रद्धा भक्ति से महात्मा के हाथ से वह फल ले लिया। उसके हर्ष का ठिकाना नहीं था, उसके रोम-रोम खिल उठे। शोकाश्रु आनन्दाश्रुओं में परिणित हो गये। फल को लेकर उसने मस्तक पर चढ़ाया, फिर यत्नपूर्वक उसे अपने उत्तरीय के कोने में बाँध लिया। फिर बार-बार संन्यासी के चरणों की धूलि मस्तक पर चढ़ाकर उन्हें प्रणाम करके प्रसन्न चित्त घर को लौट पड़ा।

इधर धुन्धुली प्रातःकाल से ही प्रतीक्षा कर रही थी, आज वे कहाँ चले गये, अभी तक लौटकर भी नहीं आये। इतनी देर तो बाहर कभी लगाते नहीं थे। यदि कहीं दूसरे गाँव जाना होता तो कहकर जाते। अभी तक भोजन नहीं पाया।

धुन्धुली इसी प्रकार के विचारों में पड़ी चिन्ता मग्न थी, कि ब्राह्मण ने जाकर द्वार खटखटाया। धुन्धुली ने दौड़कर किवाड़ खोली और प्रेम मिश्रित रोष में बोली—"आज प्रातःकाल से ही कहाँ चले गये थे। सब भोजन ठण्डा हो गया। कहीं जाना हो तो कहकर तो जाना चाहिये। कब से मैं चौका में घिरी बैठी हूँ।"

ब्राह्मण ने अपनी मानसिक प्रसन्नता को व्यक्त करते हुए कहा—"आज मैं तेरे लिये ऐसी वस्तु लाया हूँ, कि तू कभी कहेगी, हाँ कोई लाये थे आज तेरा रोम-रोम खिल जायगा।"

मुँह बनाकर धुन्धुली ने कहा—"ऐसी क्या जीवनमूरि ले आये हो, आपको अपने शरीर का तो कुछ ध्यान है नहीं। मुख कितना मुरझा गया है। आज जलपान भी नहीं किया।"

ब्राह्मण कुछ भी न बोले—"वे भीतर चले गये जाकर ब्राह्मणी के हाथ में फल दे दिया। ब्राह्मणी ने पूछा—"यह क्या है ?"

ब्राह्मण बोले—"यह हमारी आशाओं का केन्द्र है। यह हमारे सम्पूर्ण जीवन के दान धर्म का फल है। मुझे एक बड़े भारी माहात्मा ने आशीर्वाद पूर्वक इसे दिया है। इसे तुम खा-

लोगी, तो तुम्हारे निश्चय पुत्र होगा। फिर हम अपुत्री न कहावेंगे फिर हमारे पितर उष्ण सांस लेते हुए हमारे तिल मिश्रित जल को ग्रहण न करेंगे। फिर तो हम संतान वाले हो जायँगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर धुन्धुली ने चुपचाप फल को रख लिया। हाथ पैर धुलाकर वह पति को भोजन कराने लगी। भोजन करके ब्राह्मण को तो कहीं बाहर का आवश्यक कार्य स्मरण हो उठा। स्त्री से यह कहकर कि आज ही फल खा लेना, आज ही शुभ मुहूर्त है वह तो बाहर चला गया। इधर धुन्धुली ने जो कौतुक रचा वह कथा बड़ी रोचक है। उसे मैं आगे कहूँगा। इससे आपको विदित हो जायगा, कि भाग्य के बिना कुछ भी नहीं प्राप्त हो सकता।"

छप्पय

चलत चलत अति श्रमित तृषित इक सरढिँग आयो।
लखि संन्यासी सन्त जाइ चरननि सिर नायो॥
पूछ्यो दुख को हेतु कथा सब विप्र सुनाई।
संत भाल पढ़ि कह्यो सात जनमनि सुत नाई॥
मिलै पुत्र सुख भाग्य वश, तातैं द्विज! सुत हठ तजो।
हिय विवेक वैराग्य धरि, हरि हरि नित सब तजि भजो॥

धुन्धुकारी और गोकर्ण का जन्म

[१३]

मनोरथान् करोत्युच्चैर्जनो दैवहतानपि ।
युज्यते हर्षशोकाभ्यां तथाप्याज्ञां करोमि ते ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३६ अ० ३६ श्लोक)

छप्पय

सुनि बोल्यो द्विज—युक्ति न दूसरि मोकूँ भावै ।
जैसे तैसे पुत्र एक प्रभु मोइ दिवावै ॥
यदि न मिलै सुत प्रान अबहिँ हौं तुम पै त्यागूँ ।
संत सोच में परे यहाँ तैं कैसे भागूँ ॥
बोले—दै फल नारि तव, हरषि जाइ यदि खाइगी ।
तो निश्चय पंडित परम, पुत्र प्रानप्रिय पाइगी ॥

होनहार जैसी होने को होती है वैसी ही बुद्धि बन जाती है। मनुष्य यत्न सुख के लिये करता है दुःख आ जाता है। मरने को यत्न करता है जीवन हाथ आ जाता है। प्रारब्ध के सम्मुख किसी की युक्ति चलती नहीं सभी प्रयत्न विफल बन जाते हैं, फिर इस

---

* अक्रूरजी की कंस के प्रति उक्ति है—"मनुष्य भाग्य द्वारा विनष्ट किये हुए ऊँचे से ऊँचे मनोरथों को किया करता है, उनके द्वारा उसे कभी हर्ष होता है कभी शोक। जो होने वाला है वह तो अवश्य ही होकर रहेगा, फिर भी आपकी आज्ञापालन तो मैं करूँगा ही।"

अभागे आदमी पर बिना यत्न किये रहा नहीं जाता ? नित्य असंख्यों उदाहरण देखता है, बाहर की बात जाने दीजिये अपने ही जीवन में ऐसे अनेकों अवसर आते हैं कि करना चाहते हैं कुछ, हो जाता है कुछ। इसीलिये तो कहा है—"करम गति टारी नाहिँ टरी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! संन्यासी से फल प्राप्त करके आत्मदेव ब्राह्मण ने वह फल अपनी पत्नी को दिया संन्यासी ने कुछ शौच सदाचार सम्बन्धी नियम संयम बताये थे, उनको भी भली भाँति समझा दिया, स्वयं तो वह कहीं बाहर चला गया। अब तक तो धुन्धुली निश्चिन्त बैठी थी, सबने कह दिया था, तुम्हारे सन्तान नहीं हो सकती इसलिये पति सन्तान प्राप्ति के लिये जो भी प्रयत्न करता उसकी हाँ में हाँ मिलाती रहती। अब जब उसे विश्वास हो गया, कि किसी सिद्ध महात्मा का दिया हुआ यह फल है, इससे सन्तान हो सकती है, तो उसके मन में खलबली मची। अब उसे संकल्प विकल्प होने लगा, फल को खाऊँ या न खाऊँ। एक बार सोचती पति इसे बड़े प्रयत्न से लाये हैं, सिद्ध महात्मा का दिया हुआ है इसे खा ही लेना चाहिये, किन्तु उसके प्रारब्ध में तो पुत्र था ही नहीं। उसके भाग्य में तो मातृत्व का सर्वश्रेष्ठ पद बदा ही नहीं था, उसकी कोख तो सन्तान को वास देने की सामर्थ्य ही नहीं रखती थी। इसी-लिये वह सोचती क्या मैं सुकुमारी गर्भ के कष्टों को सहन कर सकूँगी ?"

जब सोचते-सोचते कुछ निर्णय न कर सकी तो उसकी एक सहेली थी। उससे उसकी दाँत काटी रोटी थी जैसे यह तो वैसी ही वह थी, "जैसी अहो तैसी महो, इनके चूल्हि न उनके तओ।" मैत्री समान शील में ही होती है। धुन्धुली दौड़ी-दौड़ी अपनी सहेली के पास गई। इसे घबड़ाई हुई देखकर उसकी सहेली

कहा—"बहिन आज तू बड़ी व्यग्र-सी दिखाई देती है, तेरा चित्त चंचल है, मुख मलिन हो रहा है उस पर उदासी चिन्ता की रेखायें स्पष्ट उभर रही हैं। अपनी व्यग्रता का कारण क्या है बात तो बता।"

धुन्धुली ने कहा—"चल बहिन, तनिक एकान्त में चलें, तुझसे कुछ सम्मति करनी है।"

यह सुनकर वह एकान्त में इसे ले गयी। भीतर से किवाड़ बंद करके धुन्धुली ने फल उसे दिखाया और सभी वृत्तान्त सुनाया। फिर उसकी सम्मति पूछी, तू बता मैं इसे खाऊँ या नहीं।"

सहेली ने कहा—"जब तेरे पति इतने प्रयत्न से लाये हैं, तब मेरी सम्मति में तो इसे खा ही लेना चाहिये। अच्छा है घर में एक सन्तान हो जाय।"

यह सुनकर धुन्धुली रो पड़ी और रोते-रोते बोली—"बहिन तू भी ऐसा सम्मति देती है तू जानती नहीं, मैं कितनी सुकुमारी हूँ इस विपत्ति को कैसे सह सकूँगी।"

सखी ने कहा—"हाय, बहिन! सन्तान पैदा करना तो हम नारियों का भूषण है इसे तू विपत्ति कैसे कहती है।"

धुन्धुली ने सुनकर कहा—"भूषण होगा, जिसके लिये होगा, मुझे तो बड़ा भय लगता है, कहीं गर्भ रह गया, तो पेट फूलकर घड़े का भाँति हो जायगा, मुख की कान्ति पीली पड़ जायगी, जी मिचलाने लगेगा गर्भिणियों को कभी-कभी उबकाई आती है, अन्न नहीं पचता, शरीर शिथिल हो जाता है, चलने-फिरने में भी कष्ट होता है, अधिक भोजन किया नहीं जायगा, दुर्बलता आ जायगी। मैं अपने घर की अकेली ठहरी, मैं इस गोरख धन्धे में फँसी तो घर का काम काज कौन करेगा ?"

सहेली ने कहा—"ऐसे समय पर अपने सगे सम्बन्धियों को

बुला लेते हैं। तेरी तो कई ननदें हैं उनमें से एक दो को बुला लेना।"

हाथ नचाकर धुन्धुली ने कहा—"ननदें जैसी हैं तैसी मैं ही जानती हूँ, ननदें जहाँ घर में आईं, फिर घर में कोई वस्तु बचने न पावेगी। मैं सब समय उनका पहरा थोड़े ही देती रहूँगी। चुपके-चुपके एक-एक चीज को खिसकाते-खिसकाते वे अपने घरों को भर लेंगी, इस घर को खाली कर देंगी। तब मैं क्या करूँगी।"

सखी ने कहा—"काम काज की कौन-सी बात है ननदों को न बुला लेना हो तो कोई बुढ़िया रख लेना। रोटी पानी चौका बर्तन वह कर लेगी। तू अपना देखती-भालती रहना।"

धुन्धुली ने कहा—"बहिन! तू समझती नहीं। सौ झंझट हैं, उस बोझ को हर समय कहाँ लिये फिरूँगी। मान लो कभी गाँव में लूट पाट मच गयी, या आग ही लग गयी तो और सब तो अपनी-अपनी चीज वस्तु ले-लेकर भाग जायँगे, मुझे तो अपना शरीर बचाना भी कठिन हो जायगा, धन और प्राण दोनों जायँगे।"

सहेली ने कहा—"बहिन! ऐसी अनिष्ट की कल्पना क्यों करती है, क्या तेरे ही अकेली के गर्भ रहेगा औरों के गर्भ नहीं रहता क्या?"

धुन्धुली ने कहा—"औरों की तुलना तू मुझसे क्यों कर रही है, और सब हृष्ट-पुष्ट होती हैं, मैं दुबली पतली हूँ, और सहन कर सकती हैं, मैं सुकुमारी कोमलांगी हूँ, औरों के यहाँ बहुत-सी सास, ननद, द्यौरानी, जिठानियाँ तथा और भी पुरुष हैं स्त्रियाँ हैं, मैं, अपने घर की अकेली हूँ, औरों के इतना बड़ा घर नहीं इतना धन नहीं इतनी चीज वस्तुएँ नहीं। बात पृथक् है मैं यह नहीं कहती हूँ कि गाँव में आग लग ही जाय लूट पाट मच ही जाय

भगवान् ऐसा न करे। यदि कभी दैव वश ऐसा हो जाय, तो मुझसे तो एक पैर भी न भागा जायगा। ऐसा न हो, मान लो गर्भ रह जाय और वह पैदा ही न हो।"

सहेली ने कहा—"कहो ऐसा भी होता है, गर्भ रहने पर तो बच्चा पैदा हो ही जाता है।"

धुन्धुली ने कहा—"होता क्यों नहीं बहुतों का तो पेट चीर कर बच्चा निकाला जाता है, मुझे तो चीर फाड़ का स्मरण आते ही रोमाञ्च होते हैं। कथा पुराणों में ऐसा सुना है, व्यासदेव जी की पत्नी अरणी के पेट में शुकदेव जी बारह वर्ष तक रहे आये वे निकले ही नहीं। ऐसे ही कोई मेरे पेट में जम कर बैठ गया, तो फिर मेरी तो मृत्यु ही हो जायगी।"

सहेली ने कहा—"ऐसे कोई नहीं जम के बैठता वह तो दूसरी बात थी। बच्चा तो ६-१० महीने में अपने आप हो जाता है।"

धुन्धुली ने रोष में आकर कहा—"हाँ, तुम्हारे कहने से अपने आप हो जाता है, बच्चा पैदा करना कोई सरल काम नहीं है। स्त्री के प्राण ही नहीं निकलते और सब दुर्गति हो जाती है। कभी टेढ़ा हो जाता है, तो काट-काटकर बच्चा निकाला जाता है वह कितना बीभत्स कांड है। कभी-कभी गर्भ का बच्चा पेट में ही मर जाता है, यदि उसे काटकर न निकाला जाय तो उसका विष पेट में फैल जाय गर्भवती की मृत्यु हो जाय। गर्भाशय में अश्मरी या दूसरा कोई रोग हो जाय, तो प्राणों के लाले पड़ जायँ। मान लो जैसे-तैसे गर्भ सुरक्षित भी रह जाय, कोई विघ्न बाधा भी न हो। प्रसवकाल में जो वेदना होती है, उसे स्त्री ही सहन कर सकती है। अत्यन्त संकुचित स्थान से इतना बड़ा शरीर निकलता है. स्त्री जीवित रह जाती है यही बड़ा आश्चर्य है।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! जब संतान पैदा

करने में इतना भारी कष्ट है, तो फिर स्त्री पुरुष सन्तान के लिये इतने लालायित क्यों रहते हैं ?"

यह सुनकर सूतजी खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—"अब महाराज ! आपके भाग्य में तो संतान सुख बदा नहीं, आपने कभी गृहस्थ सुख भोगा नहीं, जन्म से ही बाबाजी बने हो, आपको अब कैसे समझावें इस विषय को। भगवन् ! संतानें न हों तो यह सृष्टि कैसे चले ?" सृष्टि न भी चले, सृष्टि हम स्वेच्छा से अपना कर्तव्य समझकर थोड़े ही बढ़ा रहे हैं। संध्या वन्दन की भाँति संतान उत्पन्न करना भी ऐच्छिक धर्म होता तो कोई विरले ही संध्या पूजन की भाँति सन्तान उत्पन्न करते। किन्तु ब्रह्माजी ने अपनी सृष्टि को बढ़ाते रहने का स्वयं प्रबन्ध कर दिया है, लोगों के मन में सन्तान की एक ऐसी लालसा भर दी है कि प्राणी न भी चाहे तो भी उसे सन्तानोत्पत्ति करनी ही पड़ती है। इस विषय को मैं एक दृष्टान्त से आपको समझाता हूँ।"

एक यवन के यहाँ बहुत से कबूतर थे। कबूतरनियाँ बहुत से अंडे देतीं, घरवाली उन्हें उठा ले जाती और घर के लोग उन्हें खा लेते।

उनमें एक बहुत ही बुद्धिमती कबूतरी थी। उसने एक दिन एक बूढ़ी कबूतरी से पूछा—"दादी ! हम लोग इतने अंडे देती हैं, उतने बच्चे तो होते नहीं, ये अंडे जाते कहाँ हैं।"

बूढ़ी कबूतरी ने कहा—"बेटी, हमारा जो यह पालन-पोषण करने वाला है, इसकी स्त्री अंडों को ले जाती है इसके परिवार वालों का पेट भरता है।"

कबूतरी ने कहा—"दादी ! हम इतने कष्ट से अंडे पैदा करें और ये लोग अपने स्वाद के लिये इन्हें खा जायँ। यह तो बड़ा भारी अन्याय है।"

बूढ़ी कबूतरी ने कहा—"बेटी ! वह हमारा पालन-पोषण भी तो करता है संसार में सदा से ऐसा ही होता आ रहा है, किसान कितने श्रम से अन्न पैदा करता है, उसे खाते हैं दूसरे लोग। श्रमिक कितने श्रम से सुन्दर-से-सुन्दर रेशमी वस्त्र बनाते हैं उसे पहिनते हैं, दूसरे लोग। श्रमिक तो सदा फटे पुराने साधारण ही वस्त्र पहिनता है, फलों के बगीचे वाले कितने सुन्दर सुन्दर फल पैदा करते हैं, बच्चों को नहीं देते उनका उपभोग दूसरे लोग करते हैं। खानों के श्रमिक कितना घोर परिश्रम करके भूमि के नीचे से बहुमूल्य रत्न निकालते हैं उसे पहिनते हैं दूसरे ही लोग। यह तो सदा से सृष्टि का क्रम चला आ रहा है, कोई श्रम करता है, कोई श्रमिकों पर आज्ञा चलाता है, कोई उनके प्रतिफल का उपभोग करता है।"

युवती कबूतरी ने कहा—"दादी ! यह बड़ा अन्याय है, यह पालने वाले का हमारे साथ अन्याय है, हमारी भावी सन्तानों को वह खा जाय। हमें इसके विरुद्ध प्रचंड आन्दोलन करना चाहिये। सबको समान अधिकार दिलाना चाहिये।"

बूढ़ी कबूतरी ने कहा—"बेटी ! सब समान कैसे हो सकते हैं। एक अपने बुद्धिचातुर्य से सहस्रों का पेट भरता है, एक पर अपना भी पेट नहीं भरा जाता। एक काम करता है, एक आज्ञा देता है दूसरा उसका पालन करता है, एक शासक है दूसरा शासित है। जो आन्दोलन करेगा एक दिन वह भी शासक बन कर दूसरों पर आज्ञा चलावेगा। सबसे कठोर कार्य करावेगा, जो आज्ञा न मानेगा उसे दण्ड देगा। विधि का विधान ही ऐसा है। तू आन्दोलन के चक्कर में न पड़।"

युवती कबूतरी ने कहा—"नहीं दादी ! हमें सामूहिक रूप से अंडों का उत्पादन बन्द कर देना चाहिये। जब अंडा पैदा ही न होंगे, तो घर वाले को मिलेंगे कहाँ से ?"

बुढ़िया ने अपने कानों पर हाथ रखकर कहा—"ना बेटी, ऐसा नहीं कहते जो हमारा स्वामी है उसके विरुद्ध द्वेष करना शोभा नहीं देता। अंडे तो हमें पैदा करने ही होंगे, यहाँ न रहे दूसरे स्थान पर रहे भेड़ तो जहाँ भी जायगी, वहीं मूड़ी जायगी।"

युवती कबूतरी ने कहा—"ऐसी बातें बताकर तो भाग्यवादियों ने हमें आलसी बना दिया है, सब मिलकर जो चाहें सो कर सकते हैं।"

बूढ़ी ने कहा—"यह मैं मानती हूँ, कि संघ में बड़ी शक्ति होती है, किन्तु कुछ ही दिन को परिवर्तन हो सकता है, फिर वही ढर्रा चल पड़ेगा, एक बार ही सब कबूतर मिलकर जाल को लेकर भाग सकते हैं, किन्तु यह नियम नहीं बन सकता। बहेलिया जाल में कबूतरों को फँसाते ही रहेंगे।"

युवती कबूतरी ने कहा—"दादी! यह बात मेरी बुद्धि में बैठती नहीं। यदि हम सब मिलकर अंडे देना बन्द कर दें तो फिर यह अन्याय हो ही नहीं सकता, न रहें बाँस न बाजे बाँसुरी।"

बूढ़ी ने कुटिल हँसी को दबाते हुए कहा—"बेटी! पहिले तू ही करके दिखा दे। यदि तुझे सफलता मिल गयी तो फिर सब ही ऐसा करेंगी।"

अभिमान के साथ युवती कबूतरी ने कहा—"दादी! तुम देख लेना, मैं इस अन्याय के सामने कभी सिर न झुकाऊँगी। मैं तो अब अंडे पैदा करूँगा नहीं।"

बुढ़िया ने कहा—"अच्छी बात है, हाँ क्यों दूसरों के लिये इतना क्लेश सहा जाय।" यह कहकर बुढ़िया मुस्करायी। उसी समय घर वाली बहुत से अंडे लेकर जाती हुई दिखायी दी युवती कबूतरी को बड़ा क्रोध आया। उसने सोचा—"मैं अपनी चोंच,

-से इसकी आँखें फोड़ दूँ। इतने परिश्रम से पैदा किये हमारे अंडों को यह उठा ले जाती है अपना स्वार्थ साधता है।" किन्तु उसने कुछ सोचकर उस पर प्रहार नहीं किया।

वह उड़कर घर के पीछे गयी। देखा वहाँ सफेद-सफेद अंडों के बहुत छिलके पड़े हैं। कबूतरी का रक्त उबलने लगा। हाय! प्राणी कितना क्रूर है, इतने अंडों को उदरस्थ कर जाता है, दूसरा के घोर परिश्रम से अपने पापी पेट को भरता है स्वादेन्द्रिय को तृप्त करता है, वह बड़ी देर तक उन छिलकों के ढेर पर बैठी रोती रही। उसने अपनी प्रतिज्ञा को दुहराया, अब मैं जीवन में कभी अंडे उत्पन्न न करूँगी।"

एक दिन हुआ। दो दिन हुए। तीन दिन हुए। चौथे दिन वह प्रातःकाल सवेरे उठकर गयी। देखा काला कबूतर अपने गले को फुलाकर दाना चुग रहा है।

दूर से ही उसने पूछा—"कबूतर बाबू! क्या कर रहे हो?"

कबूतर ने कहा--"दाना चुग रहा हूँ, आ जा तू भी चुग ले।"

उसने कहा—"मैं तुम्हारे पास चुगने नहीं आती। तुम पेट के लिये पाप करते हो।"

कबूतर कुछ न बोला दाना चुगता ही रहा। फिर उसने कबूतरी को बुलाया। कबूतरी ने फिर भी मना कर दिया। अब कबूतर चुगते-चुगते कबूतरी की ओर जाने लगा। कबूतरी ने बहुत चाहा मैं उड़ जाऊँ किन्तु न जाने क्या सोचकर उड़ी नहीं। कबूतर समीप ही आ गया, एक बार कबूतरी ने पूरी शक्ति लगा कर प्रयत्न किया कि उड़ जाय, किन्तु उसे ऐसा प्रतीत हुआ उसके पैर पृथ्वी पर चिपक गये हैं। कबूतर और भी सन्निकट आता गया यहाँ तक कि इतने समीप आया कि दोनों के पंख एक दूसरे को छू गये।

कई दिनों के पश्चात् उस कबूरीत ने ३-४ अंडे दिये। बुढ़िया

कबूतरी मुस्कराती हुई आयी और बोली—"बेटी ! बधाई, अब के तुमने बड़े सुन्दर चार अंडे दिये हैं।"

लजाते हुए कबूतरी ने कहा—"दादी ! किया क्या जाय, भगवान् की माया है, प्रारब्ध का खेल है, विवशता है, विधि का ऐसा ही विधान था।"

सूतजी शौनक मुनि से कह रहे हैं—"सो, महाराज ! संतान कोई अपनी इच्छा से थोड़े ही उत्पन्न कर सकता है, भगवान् की माया है, ईश्वर का खेल है, जगत्पति का नाटक है। हम सब उनके खिलौने, स्त्री पुरुष सभी उनकी इच्छा रूपी नाथ में नथे हुए हैं, वे जिधर घुमाना चाहते हैं उधर ही घूमना पड़ता है।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी ! आप सत्य-सत्य कह रहे हैं। इसीलिये तो भगवान् ने गीता में कहा है—"कर्तुमिच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपितत्" यदि हम करना न भी चाहें तो ईश्वर की इच्छा के सम्मुख अवश होकर करना पड़ता है। अच्छा तो उस ब्राह्मणी का क्या हुआ उसने फल खाया या नहीं ?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज ! वही तो मैं कह रहा था, उस स्त्री के भाग्य में पुत्र पैदा करना नहीं था इसीलिये वह ऐसी लम्बी-चौड़ी व्यर्थ की कल्पना करने लगी। उसने अपनी सहेली से कहा—"देख बहिन ! मान ले मैं गर्भ धारण किसी प्रकार कर भी लूँ, तो उन महात्मा ने सत्य बोलना, पवित्रता से रहना, बहुत न बोलना, सात्त्विक भोजन करना और न जाने कितने नियम बताये हैं, बीर ! मुझसे तो ये नियम निभने के नहीं। मैंने तो कभी ऐसा आचार-विचार किया नहीं। फिर सन्तान होने में तो जो कष्ट होता है सो होता ही है, उसके पालन-पोषण में महान् कष्ट सदा उसे गोदी में लिये फिरो साथ लेकर सोओ जाड़े के दिन हैं बिस्तर में ही मल-मूत्र कर देता है, उसी पर

सोना पड़ता है, भोजन कर रहे हैं साड़ी पर ही मल-मूत्र कर दिया। कितनी घृणा की बात है पुत्रवती स्त्री को ये विपत्तियाँ पग-पग पर उठानी पड़ती हैं, इसी कारण मैं वन्ध्या अथवा विधवा स्त्री को अच्छी मानती हूँ न ऊधो का लेना न माधो का देना, तान दुपट्टा सोना।" न किसी का मल उठाना पड़े न मूत्र धोना पड़े अपनी नींद सोए अपनी नींद जागे।"

सहेली ने कहा—"अच्छी बात है, तुम्हें झंझट प्रतीत हो, अनुकूल न पड़े तो मत खाना।"

धुन्धुली ने धीरे से कहा—"बहिन! तुझे मेरी शपथ है। भूल में भी इस बात को किसी से कहना नहीं।"

सहेली ने कहा—"मुझे क्या पड़ी है किसी से कहूँ। तू मेरी ओर से निश्चिंत रहना, कभी तू सुन ले तब कहना।"

यह कहकर वह अपने घर चली गयी। रात्रि में बाहर से लौटकर उसका पति आया, आते ही उसने पूछा—"क्यों वह जो महात्मा का प्रसादी फल था, वह तुमने खाया या नहीं।"

स्त्री ने सरलता से कहा—"हाँ जी, मैंने खा लिया।"

ब्राह्मण ने पूछा—"कैसा था?"

स्त्री ने कहा—"अच्छा ही था, स्वाद बुरा नहीं था।"

पति से तो उसने कह दिया, मैंने फल खा लिया, किन्तु वास्तव में उसने फल को छिपाकर रख दिया था उसे बड़ी चिन्ता हुई। मैंने कह तो दिया, खा लिया. किन्तु मेरे गर्भ न रहा तो ये फिर उस संन्यासी को पकड़ेंगे। कोई तन्त्र-मन्त्र गन्डा लावेंगे। साधु यदि सिद्ध हुआ तो समझ लेगा मैंने नहीं खाया फिर वह स्वयं अपने आप आकर खिलावेगा, जिस झंझट से बचना चाहती हूँ, वह फिर मेरे पल्ले पड़ जायगा। उसे यही चिन्ता लगी रही।"

दूसरे दिन संयोग से उसकी छोटी बहिन उससे मिलने

आयी। उसका भी घर उसी मुहल्ले में उसके समीप ही था। उसके कई संतानें थीं। पहिले तो उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी अब बहुत ही बिगड़ गयी। भरपेट भोजन भी नहीं मिलता था। उसका पति कुछ काम भी नहीं करता था। बड़ी बहिन के पास इसी आशा से बार-बार आती, कुछ मिल जाय। यह भी बहिन के नाते उसे कुछ दे देती थी। आज जब वह आई तो इसे उदास बैठे देखा। उसने पूछा—"जीजी! आज उदास कैसे हो। जीजाजी ने कुछ कह दिया क्या?"

उसने कहा—"अरी, तेरे जीजा तो देवता हैं, वे तो कुछ कहना जानते ही नहीं। एक झंझट कल से मेरे पीछे और लग गया है। किसी से कहे नहीं तो तुझे बताऊँ।"

उसकी बहिन ने कहा—"हाय जीजी! तुम मेरे ऊपर इतना भी विश्वास नहीं करती। यदि कभी किसी के मुख से सुन लो, तो मुझे जीवित ही कुत्तों से नुचवा लेना।"

धुन्धुली ने कहा—"नहीं, अविश्वास की कोई बात नहीं। तू तो मेरी बहिन ही है, तुझसे भी अपने दुख-सुख की बात न कहूँगी तो किससे कहूँगी। देख, तेरे जीजा को सन्तान की बड़ी धुन सवार है। उसके लिये उन्होंने क्या नहीं किया घर का सब धन नष्ट कर दिया, वैद्य चिकित्सकों, ओझा, और ज्योतिषियों का घर भर दिया। नित्य दान दक्षिणा देते ही रहते हैं। अब किसी साधु के चक्कर में पड़ गये हैं, उसने एक फल दिया है। कल कह गये थे, इसे अवश्य खा लेना। आकर पूछा भी-खा लिया न? मैंने झूठे ही कह भी दिया—"हाँ खा लिया।"

कहने तो मैं कह गयी, अब सोचती हूँ, मेरे सन्तान न हुई, तो मैं क्या कहूँगी, फिर कोई प्रयोग करवाया तो मैं कहीं की भी न रहूँगी, मुझे प्रसव पीड़ा से बड़ा भय लगता है। मरना तो स्वीकार है, किन्तु यह दुर्दशा मुझसे न सही जायगी। इसी सोच

मे मैं कल से पड़ी हूँ। मुझे भोजन पान कुछ भी नहीं भाता। कल से मैंने भोजन की कौन कहे जल भी नहीं पिया।"

वहिन ने कहा—"इसी से तुम्हारा मुख मुरझा गया है, ऐसी लगती हो जाने कब से रोगिणी हो। तुम चिन्ता मत करो, इसका उपाय मैं करूँगी, मैं ऐसा उपाय बताऊँगी कि "साँप मरे न लाटी टूटे।"

धुन्धुली ने कहा—"ऐसा कौन-सा वह उपाय है उसे शीघ्रता से मुझे बता।"

वहिन बोली—"मैं स्वयं गर्भवती हूँ। डेढ़ दो महीने का मेरा गर्भ है, बच्चा पैदा होने का समय जब आवेगा मैं तुम्हारे घर आऊँगी। बच्चा होते ही तुरन्त उसे तुम्हें दे दूँगी।"

धुन्धुली ने कहा—"यह तो तैंने अच्छी बात सोची, किन्तु तेरा पति पूछेगा तो क्या कहेगी?"

उसने उपेक्षा के स्वर में कहा—"पुरुष इन बातों की बहुत छान बीन नहीं किया करते। छः महीने पश्चात् मैं कह दूँगी, मेरा गर्भ गिर गया। फिर तुम्हारे घर आ जाऊँगी, कह दूँगी मेरी वहिन के घर में कोई नहीं है उसके बच्चा होने वाला है, घर का काम मुझे देखना है। दो महीने यहाँ रह जाऊँगी।"

धुन्धुली ने कहा—"वे कुछ आपत्ति तो न करेंगे।"

उसने धीरे से उनके कान में कहा—"जीजी! रुपये की मार ऐसी होती है, कि सब आपत्तियाँ टल जाती हैं, जहाँ मुट्ठी गरम हुई नहीं कि सब मार्ग सुलभ हो जाते हैं। तू उन्हें चुपके से कुछ धन दे देना। सब बात अपने आप बन जायँगी।"

धुन्धुली ने कहा—"भगवान् की दया से रुपयों की तो कमी नहीं। तू जितना चाहे धन ले जा, किन्तु बात खुलने न पावे।"

वहिन ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"जीजी! तुम विश्वास रखो

यह काम मेरे ऊपर छोड़ दो, किन्तु एक काम तुम्हें भी करना होगा।"

धुन्धुली ने पूछा—"वह कौन-सा ?"

हँसते हुए उसकी बहिन ने कहा—"जीजा जी को किसी भी प्रकार संदेह न होने पावे कि तुझे गर्भ नहीं है।"

उसने हँसी रोककर कहा—"चल, हट पगली! उस सब की व्यवस्था मैं कर लूँगी। तुझे यह शिक्षा मुझे न देनी होगी, तो मैं कुछ दिनों पश्चात् उनसे कह दूँ मुझे गर्भ के लक्षण दिखायी देने लगे हैं।"

बहिन ने कहा—"हाँ, तुम निश्चिन्त होकर दृढ़ता के साथ उनसे कह दो। मैं तुम्हारा सब काम करूँगी।"

कुछ द्रव्य उसके हाथ में थमाती हुई धुन्धुली बोली—"यह अभी लेती जा, फिर जब-जब और आवश्यकता होगी तब-तब और भी मैं देती रहूँगी किन्तु हाँ, एक बात तो बता, इस फल का क्या करूँ ?"

यह सुनकर उसकी बहिन कुछ देर सोच में पड़ गयी। फिर सोचकर बोली—"मेरे विचार से तो तुम इस फल को अपनी गौ को खिलादो। तुम्हारी गौ के भी कभी बच्चा नहीं होता, यदि इस फल में यथार्थ में कुछ तत्व होगा, तो गौ बच्चा देगी, घर में दूध हो जायगा फल की भी परीक्षा हो जायगी।"

धुन्धुली ने कहा—"तू तो बुद्धि की पिटारी है कैसी-कैसी सुन्दर युक्ति तू बताती है। तू न होती तो मैं आज सोच के मारे ही मर जाती। अच्छा मैं यही करूँगी।"

सूतजी कहते हैं—"महाराज, इन स्त्रियों की बुद्धि को ब्रह्मा बाबा भी नहीं पा सकते। पुरुषों के भाग्य को तो भले ही कोई बड़ा भारी ज्योतिषी समझले किन्तु त्रिया चरित्र को समझना तो विधाता की भी बुद्धि के बाहर की बात है।"

शौनकजी ने कहा—"महाराज, अच्छे बुरे सभी में होते हैं, पुरुष भी तो बड़े मायावी होते हैं। स्त्रियों में भी बहुत सी सती साध्वी भोली भाली कपट रहित होती हैं। कपट और क्रूरता किसी एक के भाग्य में नहीं आ गयी है। हाँ तो फिर आगे क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"आगे जो होना था वही हुआ शरीर सुख की इच्छा और धन की गरमी जो भी चाहे पाप करा सकती है। धुन्धुली ने अपनी बहिन की बात मान ली। ब्राह्मण से कुछ काल में कह दिया मेरे गर्भ रह गया है।"

इधर उसकी बहिन ने अपने पति से सम्मति की। उसका पति भी धन के लोभ में आ गया, उसने कहा—"उसके घर में तुम पुत्र पैदा करोगी, तो बात खुल जायगी। नौकरानी धाय तथा दूसरी स्त्रियाँ जान जायँगी। बच्चा यहीं पैदा हो, मैं चुपके से जाकर उसे दे आऊँगा।"

यही सम्मति तीनों ने स्वीकार कर ली। ६ महीने पश्चात् उसकी बहिन ने झूठे ही प्रवाद फैला दिया मेरा ६ महीने का गर्भ गिर गया है, इधर धुन्धुली पेट में रुई के बहुत से कपड़े बाँधे रहती और अपने को गर्भवती प्रकट करती रहती।

एक दिन रात्रि में उसकी बहिन ने एक लड़का उत्पन्न किया उसका पति पहिले ही कह गया था, किवाड़ खुली रखें। चुपके से आकर लड़के को धुन्धुली के पास रखकर चला गया। बच्चा रोने लगा। सर्वत्र हल्ला मच गया आत्मदेव के पुत्र हुआ है, पीछे स्वस्थ होने पर उसकी बहिन भी आ गयी। उसने सब बात सम्हाल ली।

आत्मदेव ने जब सुना कि बिना किसी कष्ट के उसकी स्त्री ने एक पुत्र प्रसव किया है, तो उसके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। द्वार पर नौबत तथा बाजे बजने लगे सोहर के गीत गाये जाने

लगे। समस्त मङ्गल कृत्य हुए। समस्त जाति वालों ने तथा सगे सम्बन्धी और ग्रामवासी नर नारियों ने आकर वधाइयाँ दीं। सभी आनन्द में विभोर हो गये। आत्मदेव ने भी हृदय खोलकर सबको यथायोग्य दान दक्षिणा दी। योग्य ब्राह्मणों के साथ उन्होंने बालक के जातकर्म संस्कार किये पितरों के निमित्त श्राद्ध किये।"

धुन्धुली ने अपने पति से कहा—"बच्चा तो हुआ किन्तु अब क्या किया जाय, मेरे स्तनों में तो दूध नहीं।"

चिन्ता के स्वर में ब्राह्मण ने पूछा—"तब फिर कौन-सा उपाय हो, कोई धाय लगा लो।"

धुन्धुली ने कहा—"मेरी बहन का ६ महीने का गर्भ गया है, यदि उससे काम चल जाय तो देखूँगी। नहीं दूसरे किसी के दूध से तो पालन होना कठिन है।"

ब्राह्मण ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"यह और भी अच्छी बात है, घर की बात घर में ही रहेगी, तुम अपनी बहिन से सम्मति कर लेना और उचित समझो तो उसे यहीं रख लेना।"

पति की आज्ञा मिलने पर धुन्धुली ने अपनी बहिन को रख लिया, वह उसे सुखपूर्वक दूध पिलाने लगी। दश दिन के पश्चात् बच्चे का नाम करण संस्कार हुआ। पंडित ने तो कुछ और नाम रखा, किन्तु धुन्धुली ने कहा—"मैं तो अपने ही नाम पर बच्चे का नाम रखूँगी। मेरा नाम धुन्धुली मेरे बच्चे का नाम धुन्धुकारी।"

कहावत है, "नाम घर से ही प्रसिद्ध होता है।" घर के लोग बच्चे को जिस नाम से पुकारते हैं दूसरे भी उसी नाम से पुकारने लगते हैं, अब सभी लोग उसे धुन्धुकारी ही कहने लगे। आत्मदेव ब्राह्मण का पुत्र कहलाया धुन्धुकारी।"

इधर तीन महीने पश्चात् गौ ने भी एक बालक को जन्म

दिया। उसके सभी अंग मनुष्यों के जैसे थे केवल कान ही गौ के-से थे। यह देखकर ब्राह्मण को परम हर्ष हुआ। बालक देखने में देवकुमार के सदृश सुन्दर मनोहर और आकर्षक था। उसका गौर वर्ण था, कमल के समान बड़े-बड़े विकसित नेत्र थे तपे हुए सुवर्ण के समान उसके शरीर की कान्ति थी। इस आश्चर्य को देखने सहस्रों लोग आने लगे। सब कौतूहल के साथ कहने लगे—"हमने तो ऐसा आश्चर्य न कभी सुना न देखा। गौ के पेट से मानव बाल उत्पन्न हो। पहिले सुना था, विभांडक मुनि का पुत्र शृङ्गी, हरिणी के पेट से उत्पन्न हुआ था, किन्तु गौ ने इस देवकुमार को कैसे जन्म दिया।" कोई कहते हैं—"अब पंडित आत्मदेव जी का भाग्योदय हुआ है, स्त्री ने भी पुत्र उत्पन्न किया और गौमाता के उदर से भी देवतुल्य पुत्र रत्न पैदा हुआ। ब्राह्मण ने उसे अपना पुत्र मानकर ही उसके सभी संस्कार कराये। गौ के सदृश कर्ण होने से ब्राह्मण ने उसका नाम गोकर्ण रखा।

गोकर्ण अपनी माता गौ का ही दूध पीता और शान्तभाव से बैठा रहता। उसे लोग देखते के देखते ही रह जाते। देखने में वह ऋषि कुमारों की भाँति शांत, दांत, गम्भीर और प्रभावशाली था। शनैः-शनैः दोनों कुमार बढ़ने लगे। ब्राह्मण ने समय पर दोनों का अक्षरारम्भ वेदारम्भ संस्कार कराया। गोकर्ण तो जिस बात को एक बार सुन लेता उसे तुरन्त कण्ठस्थ कर लेता, किन्तु धुन्धुकारी को कभी याद ही नहीं होता था। २४ अक्षरों का गायत्री मन्त्र वह पूरा याद ही न कर सका। गोकर्ण तो कुछ ही दिनों में सर्व शास्त्रों का पूरा पंडित बन गया, किन्तु धुन्धुकारी मूर्ख का मूर्ख ही बना रहा। उसके आचरण भी अच्छे नहीं थे। नीच लड़कों का सदा संग करता, माता-पिता को सदा गाली देता, माता से सदा द्रव्य माँगता रहता, वह न देती तो उसके

झगड़ा करता, उसे मारता पीटता। ब्राह्मण को जो वस्तु न खानी चाहिये उसे खाता, जो वस्तु न पीना चाहिये उसे पीता और जो कुकर्म न करना चाहिये वह करता।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अधिक क्या कहूँ उन दोनों भाइयों में आकाश पाताल का अन्तर था गोकर्ण सदा सदाचारी पंडित, विद्वान् तथा शुभ कर्म करने वाला था, तथा धुन्धुकारी दुराचारी, मूर्ख, व्यसनी और दुष्कर्म करने वाला था। युवावस्था आने पर तो उसका उपद्रव सीमा को उल्लंघन कर गया। वह कभी स्नान नहीं करता, सन्ध्यावन्दन तथा अन्य ब्राह्मणोचित कर्म तो दूर की बात है, सदाचार का पालन वह कभी नहीं करता था। वह नीच पुरुषों का साथ करने लगा, उनके साथ मांस मछली खाने लगा। तब उसके साथियों ने उसे सुरापान का भी व्यसनी बना दिया। सुरापान करके घर में आवे। अंड-बंड की बातें बके माता को मारे। घर से चुराकर धन ले जाय। बात-बात पर क्रोध करे। लोग ब्राह्मण समझकर उसे दान देते। वह सबके यहाँ से सब तरह का दान ले आवे। कोई शनि, राहु केतु का दान करें उसे भी ले आवे। मृतक के हाथ से जो महापात्र दान लेते हैं उसे भी ले आवे मृतक शरीर के सम्मुख कोई खिलावे वहीं खा ले। सुरापान को वैसे धन न मिले तो चोरी कर लावे। द्यूतक्रीड़ा करने लगा, कोई कुछ कह देते अमुक के घर में आग लगा आओ, तो वहाँ आग लगा आवे। कोई कुछ देकर कहते अमुक की हत्या कर दो तो उसकी हत्या कर आवे। बच्चों को उठा ले जाय और कूएं में फेंक आवे। चांडाल हाथ में पाश लेकर पशु-पक्षियों को मारने जाते तो उनके ही साथ चला जाता, पशु-पक्षियों को मार लाता, कच्चा ही मांस खा लेता। चांडालों के साथ रहता उन्हीं के साथ भोजन करता। वेश्याओं के यहाँ भी जाने लगा। वेश्यायें धन माँगतीं, तो घर से चुरा-चुराकर सब

धन ले जाता और उन्हें दे आता। माता का जो भी आभूषण मिलता उसे ही वेश्याओं को दे आता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने पुत्र के ऐसे कुकृत्य देखकर आत्मदेव को बड़ी ग्लानि हुई। उसे संसार से वैराग्य हो गया। संसार में कुपुत्र के कारण पिता को जितना कष्ट होता है, उसे पिता ही समझ सकता है। अब आत्मदेव वैराग्य के कारण जैसे घर का त्याग करेंगे उस पुण्य प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

फल लै द्विज घर आइ नारिकूँ ताहि दिखायो।
कह्यो–सुघर सुत होहि अबहिँ यदि जाकूँ खाओ॥
पतिनी सोचे—नियम, शौच, व्रत करि न सकुङ्गी।
कैसे हौं सुकुमारि गरभ के दुःख सहुङ्गी॥
बहिन कह्यो—फल धेनु कूँ, देउ, कहो—हौं गरभिनी।
होवै शिशु मम गरभ तैं, देउँ करौ मम पति धनी॥

—❀—

धुन्धुकारी के कुकृत्यों से आत्मदेव का गृहत्याग

(१४)

कदपत्यं वरं मन्ये सदपत्याच्छुचां पदात् ।
निर्विद्येत् गृहान्मर्त्यो यत्क्लेशनिवहा गृहाः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १३ अ० ४६ श्लोक)

छप्पय

मानि बहिन की बात दिव्य फल धेनु खवायो ।
सुत भगिनी ने जन्यो ताहि निज पुत्र बतायो ॥
धुन्धुकारि धरि नाम महोत्सव सबनि मनायो ।
परम सुघर गोकरन पुत्र गैया ने जायो ॥
जप तप संयम व्रत निरत, गुन सागर गोकरन अति ।
धुन्धुकारि क्रोधी कुटिल, हिंसक द्वेषी पापमति ॥

बन्धन होता है प्रियता के कारण, वैराग्य होता है विरक्ति के कारण-सम्बन्ध को सारहीन दुःख हेतु समझने के कारण। संसार में स्त्री, पुत्र, परिवार तथा धन वैभव ये ही सुख के कारण माने

---

* महाराज अंग अपने दुष्ट पुत्र के कुकृत्यों से दुखी होकर कह रहे हैं"—जो सुपुत्र शोक से सदा आकुल बनाये रखे उसकी अपेक्षा मैं उस कुपुत्र को अच्छा मानता हूँ जिससे यह घर दुःखमय दिखायी दे, जिसके कारण पुरुष के हृदय में वैराग्य हो जाय।"

जाते हैं। स्त्री सुन्दरी हो, सरल स्वभाव की आज्ञाकारिणी, मनोनुकूल कार्य करने वाली हो तो उसमें अधिकाधिक ममता बढ़ेगी, उसका क्षण भर का दुःख असह्य हो उठेगा, यदि उसे कोई रोग हो गया तो निरन्तर चित्त में शोक ही बना रहेगा, किसी कारण से उसका चिर वियोग हो गया तब तो प्राणान्तक ही कष्ट होता है, यही बात पुत्र, कुटुम्बी और धन के सम्बन्ध में भी हैं, पुत्र योग्य हुआ आज्ञाकारी हुआ, तो सदा उसके सुख की ही चिन्ता लगी रहती है। तनिक से उसके सिर दुखने पर अपने सम्पूर्ण शरीर में हृदय में पीड़ा होने लगती है।

इसके विपरीत जिस स्त्री के लिये कमाते रहते हैं, जिस पुत्र की चिन्ता में दिन-रात्रि एक करके भले बुरे कार्य करके धन लाते हैं, उसे खिलाते हैं स्वयं चाहे भूखे ही रहना पड़े, उसे सुख पहुँचाते हैं, स्वयं चाहे कष्ट ही क्यों न सहना पड़े, वे ही जब अयोग्य निकल जाते हैं, शारीरिक तथा मानसिक पीड़ा देते रहते हैं तो भाग्यशालियों को ऐसे स्त्री-पुत्रों के कारण संसार से वैराग्य हो जाता है, वे स्त्री-पुत्र ही उनके वैराग्य का हेतु बन जाते हैं।

जितने भी संत महापुरुष तथा प्रसिद्ध पुरुष हुए हैं, उनमें अधिकांश को शत्रु रूप में आये हुए इन कुटुम्बियों के कारण ही वैराग्य हुआ है। एक संत की स्त्री बड़ी ही कर्कशा थी, जब वह उनको अत्यधिक कष्ट देती और उन्हें भली बुरी कहती, तब वे भगवान् का धन्यवाद करते और कहते—"देवि ! तुम न होती तो मुझे इस प्रकार सर्वथा संसार की निस्सारता का स्मरण कौन दिलाता रहता। एक संत की स्त्री इतनी कर्कशा थी, कि एक दिन वे ईख का गट्ठर लाये। मार्ग में बहुत से बच्चे मिले सबने ईख माँगी। संत बालरूप में क्रीड़ा करते गोपाल को मना कैसे करते। सब गन्ने बाँट दिये। एक बचा उसे ही घर लेकर आये। उनकी स्त्री ने जब सुना तो उस गन्ने को लेकर उनकी पीठ में पूरी शक्ति

से मारा, उसके दो टुकड़े हो गये। सन्त ने कहा—"पत्नी हो तो ऐसी हो, मैं एक गन्ना लाया, उसने धर्मपूर्वक एक के दो कर दिये।"

कहने का अभिप्राय इतना ही है कि उनकी स्त्री सदा उन्हें क्लेश ही पहुँचाती रहती, इससे उन्हें निरंतर संसार की निस्सारता का बोध होता रहता। दुष्टा स्त्री, कलह करने वाला कुपुत्र तथा मित्र रूप में शत्रु बने सम्बन्धी हमें संसार से वैराग्य कराने आते हैं, फिर भी अभागे लोगों को वैराग्य नहीं होता, उसी कीचड़ में फँसे रहते हैं। सब कुछ सहते हुए भी विष्ठा के कीड़ा के सदृश उसी में कुल-बुलाते रहते हैं, कोई-कोई भाग्यशाली इससे पृथक् भी हो जाते हैं। वेन की दुष्टता के कारण महाराज अङ्ग राज्य छोड़कर विरागी बन गये। विदुर जी अपने भतीजों के अन्याय से दुखी होकर घर त्यागकर तीर्थयात्री हो गये। कैकेयी की कुटिलता के कारण महाराज दशरथ परलोकवासी हुए। आधुनिक युग के बहुत से सन्त घर से तिरस्कृत होकर भगवान् की भक्ति की ओर बढ़े। कुपुत्र का होना भी अच्छा है यदि उसकी कुटिलता और कुकृत्यों के कारण संसार से वैराग्य हो जाय तो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धुन्धुकारी के कुकृत्यों से विप्रवर आत्मदेव को बड़ा ही मानसिक दुःख हुआ। वे सोचने लगे—"महात्मा संन्यासी सत्य ही कहते थे, कि पुत्र से संसार में सुख किसे हुआ है तू इस पुत्र प्राप्ति की बासना को छोड़ दे।" किन्तु उस समय मेरी बुद्धि इतनी विक्षिप्त हो गयी थी, कि त्रिकालदर्शी महात्मा की ये यथार्थ सत्य बातें मेरी बुद्धि में बैठी नहीं। हाय! इतना दान पुण्य मैंने ऐसे ही क्रूर पुत्र के कारण किया। जो म्लेच्छों के साथ निरंतर पशुवध करता है, भक्ष्याभक्ष्य खाता है, बड़े से बड़ा कुकर्म महापाप से भी बड़ा महापाप करने में लजाता

नहीं। ऐसे पुत्र को पुत्र कहना उसका मुख देखना भी पाप है। कहाँ मेरे पास अटूट धन था। इस दुष्ट के कारण आज विष खाने को भी फूटी कौड़ी नहीं। जब चाहे तब मुझ पर, अपनी माँ पर हाथ चला देता है। घर के लत्ते कपड़े, वर्तन भाँड़े सभी तो इसने वेच डाले। अब घर में रहा ही क्या? अब इस धनहीन आचारहीन, स्नेहहीन, तथा सम्मान विहीन घर मे रहकर करूँगा क्या। इससे तो यही अच्छा था मेरे पुत्र होता ही नहीं, इस समय ये क्लेश तो न सहने पड़ते। आज मुझे दाने-दाने को द्वार-द्वार तो भटकना न पड़ता। संसार में सम्पूर्ण दुःख एक ओर और कुपुत्र का दुःख एक ओर। मैं समझता हूँ, कुपुत्र का दुःख अन्य सभी दुःखों से भारी ही पड़ेगा। अब मेरे लिये रहने का कोई स्थान नहीं, किसी को मुँह नहीं दिखा सकता। दस आदमियों के समाज में जा नहीं सकता। सब मुझे देखकर थूकते हैं, उँगली उठाते हैं कि यही दुष्ट धुन्धुकारी का अभागा पिता है। कैसा अप्रत्याशित दुःख मेरे ऊपर आ पड़ा। इस दुःख से मुझे कौन दूर करेगा? कौन पुण्य पथ बतावेगा, कौन मुझे सत्य मार्ग बतावेगा, कौन मुझे इस भारी विपत्ति से छुड़ावेगा, कौन मुझे अपना कहकर अपनावेगा, कौन मुझ अभागे के दुःख को देखकर आँसू बहावेगा।" ऐसा सोचकर आत्मदेव फूट-फूटकर रोने लगा। उसके हृदय का सम्पूर्ण दुःख असह्य वेदनाकी आँच से पिघलकर नेत्रों के द्वार से निकलने लगा। उसी समय संयोग से घूमते घामते गोकर्ण वहाँ आ पहुँचा। अपने पिता को एकान्त में इस प्रकार फूट-फूटकर रोते देखकर उसे बड़ा दुःख हुआ। वह सभी कारण समझ गया और अत्यन्त ही प्रेम भरी वाणी में पिता को समझाते हुए बोला—"पिताजी! आप इस प्रकार क्यों रो रहे हैं?"

आँसू पोंछते हुए आत्मदेव ने कहा—"बेटा! अपने दुर्भाग्य

को रो रहा हूँ, क्या सोचा था, क्या हो गया ?"

गोकर्ण ने कहा—"पिताजी ! संसार की गति ऐसी ही है। मनुष्य करता है सुख के लिये उससे होता है दुःख। घर बनाता है सुख के लिये किन्तु उसकी स्वच्छता, सजाना देखरेख की नूतन चिन्ता और लग जाती है, यदि वह कहीं से टूटता है, तो ऐसा लगता है मानों हृदय ही टूट रहा हो। वस्तुओं को एकत्रित करता है सुख के निमित्त उनसे सुख मिल ही कैसे सकता है ? इन संसारी वस्तुओं में कुछ भी सार नहीं।"

आत्मदेव ने पूछा—"सार किस वस्तु में है, बेटा ?"

गोकर्ण ने कहा—"पिताजी ! सार तो भगवान् के नाम में है। भगवान् के अतिरिक्त संसार में कोई सार नहीं। यह संसार तो दुःख का आलय है मोह का जनक है, प्राणियों का जीवन धुनी रुई के सदृश है, तनिक-सी चिनगारी लगी, फुर्र से जल गया। मनुष्य ममता रूपी रगड़ से इसकी बत्ती बना लेता है, स्त्री पुत्र परिवार की आसक्ति रूप तेल में डुबोकर गृहस्थ रूपी दीपक में ममता रूपी अग्नि से जलता रहता है। जब तक स्नेह है-तेल है-तब तक यह जलता रहेगा। स्नेह के बिना चिरकाल तक जलन नहीं हो सकती। स्नेहवान् ही जलता रहता है। इस गृहस्थाश्रम में सुख कहाँ है ?"

आत्मदेव ने कहा—"बेटा ! जिनके पास अटूट धन होगा, विपुल मात्रा में भोग सामग्रियाँ होंगी, सभी जिनकी आज्ञा में चलते होंगे, तो उनको तो सुख होता होगा ?"

गोकर्ण बोले—"पिताजी ! मैंने तो कह दिया केले के पेड़ के जिस परत को उधेड़िये उसके भीतर खोखलापन ही मिलेगा। एक के पश्चात् दूसरा कोमल भले ही मिले, किन्तु अन्त में उसमें कुछ सार नहीं निकलेगा। चक्रवर्ती राजा भी सदा चिन्ता में मग्न रहता है। उसकी बात छोड़िये जो इन्द्र तीनों लोकों का

राजा है, समस्त देवताओं का अधीश्वर है, वह भी सदा अपने पद की रक्षा के लिये कितना चिन्तित रहता है, सदा दीन हीन की भाँति आशा लगाये रहता है, किसी को उग्र तपस्या करते देखकर ही व्यग्र हो उठता है, कहीं यह मेरा इन्द्रासन न छीन ले। उसे भी कभी असुर स्वर्ग से मार भगाते हैं। अपने पतन की चिन्ता उसे आठों पहर लगी रहती है। वह तो साधारण लोगों से भी अधिक दुखी है।"

आत्मदेव ने पूछा—"जब चक्रवर्ती राजा को, देवराज इन्द्र को भी सुख नहीं तो वास्तविक सुख किसे है ?"

गोकर्ण ने कहा—"वास्तविक सुख पिताजी ! उसे है जिसे संसार की किसी भी वस्तु की चाह नहीं। जिसका मन संसारी सभी भोगों से विरत हो गया है, जिसे भगवत् भजन को छोड़कर दूसरी कोई आकांक्षा ही नहीं।" जिसे आकांक्षा है, इच्छा है, भोगों में आसक्ति है, उसे तो दुःख उठाना ही पड़ेगा। बबूर के बीज बोकर उन्हें पानी से सींचते रहने पर तो काँटे वाले वृक्ष पैदा होंगे ही।"

आत्मदेव ने कहा—"तब अब मैं क्या करूँ ?"

गोकर्ण ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"पिताजी ! आप इस पुत्र मोह रूप अज्ञान को छोड़िये। कौन किसका पिता कौन किसका पुत्र ? सब स्वारथ के सम्बन्ध हैं आपने पुत्र का सुख देख ही लिया। इसी प्रकार स्त्री, भाई तथा सभी सगे सम्बन्धियों का है। बहुत हो गया अब एकान्त में जाकर भगवान् का भजन करें। यदि अब भी आप इस पुत्र-स्त्री के मोह में फँसे रहे तो इसका परिणाम तो नरक ही है। स्त्री पुत्रों से एक दिन तो अवश्य ही वियोग होगा, या तो ये ही हमें छोड़कर चले जाते हैं या हमें ही इन्हें छोड़ना पड़ता है। ये तो दूर के हैं जिस शरीर की इतनी चिन्ता रखते हैं, जिसे पाल पोसकर इतना पुष्ट करते

हैं, वह भी एक दिन नष्ट हो जाता है, हमें छोड़ देता है, जब एक दिन ये सब छोड़ने ही हैं, तो अभी से अपने आप इनकी ममता क्यों न छोड़ दे। विवशता से छोड़ने पर कष्ट होता है, स्वेच्छा से छोड़ने पर सुख होता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने ज्ञानी ध्यानी सदाचारी युवक पुत्र के मुख से ऐसी वैराग्य की बातें सुनकर आत्मदेव के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा उसका अज्ञान दूर हो गया, घर की ममता हट गयी, वे तुरन्त ही–उसी क्षण–वन को जाने को तैयार हो गये। उन्होंने आँखों में आँसू भरकर कहा—"बेटा! मैं तुम्हारे उपदेश से वन में जा रहा हूँ, अब कभी इस घर में लौट कर नहीं आऊँगा, तुम ऐसा आशीर्वाद दो मेरा चित्त भगवान् में लगे।"

रोते-रोते गोकर्ण ने कहा—"पिताजी! आप कैसी उलटी बातें कह रहे हैं। आशीर्वाद तो आपको देना चाहिये। उपदेश देने का मुझे क्या अधिकार है, मैंने तो शास्त्रों के वचनों को दुहरा दिया है। आपने भी ये सब बातें सुनी थीं, केवल आपको स्मरण करा दी हैं।"

आत्मदेव ने कहा—"अच्छा बेटा! तुमने मेरा बड़ा उपकार किया, अब तुम मुझे यह और बता दो कि वन में जाकर मैं कौन-कौन-सा कार्य करूँ? अपनी मूर्खता के कारण ही मैं इस कीचड़ में अब तक फँसा रहा, अपनी शठता के कारण ही इन दुखों को सहता रहा, अपने अज्ञान से ही इस मोह रूपी रस्सी में जकड़ा रहा, ज्ञान नेत्रों के अभाव से ही इस अन्ध-कूप में पड़ा रहा। तुमने इस पंगु को हाथ पकड़ कर अज्ञान कूप से बाहर कर दिया है। दयावश ही तुमने मेरा उद्धार कर दिया। अब मुझे वन में जाकर अपने कर्तव्यों को और बता दो। हे दयानिधे! मुझे सुगम मार्ग दिखा दो।"

गोकर्ण ने गम्भीरता के साथ कहा—"पिताजी! वन में जाकर पहिले तो आपको किसी पुण्य प्रदेश में पावन सरिता के समीप निवास करना चाहिये। भगवत् पूजन और नियमित पाठ की आवश्यक वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य कुछ संग्रह नहीं करना चाहिये। संसारी लोगों से विशेष संसर्ग और सम्पर्क न रखना चाहिये।"

आत्मदेव ने कहा—"बेटा! यह तो तुमने "रहनी" बतायी, अब करनी और बता दो।"

गोकर्ण ने कहा—"दस इन्द्रियाँ हैं, इसलिये दस ही काम करना चाहिये। वन में वास करने वाले कल्याण इच्छुक एकान्तवासी मुनि को इस दस सूत्रीय कार्य क्रम को ही अपना लेना चाहिए। उसको मैं संक्षेप से बताता हूँ।"

१—बन्धन का मुख्य कारण है, मैं और मेरापन अहंता तो होती है शरीर में, ममता होती है उसमें जिसे अपना मान लिया जाय। वास्तव में देखा जाय, तो न कुछ मैं ही हूँ न कुछ मेरा ही है। सब कुछ भगवान् की सामग्री है, भगवान् ही खेल कर रहे हैं। जैसे शतरंज खेलने वाले किसी का नाम घोड़ा किसी का नाम राजा किसी का ऊँट किसी का मंत्री रख देते हैं। जब खेलना हुआ फैला कर खेलने लगे। इच्छा हुई तब समेट कर रख दिये। हमने व्यर्थ ही शरीर में अहंकार स्थापित कर रखा है। अब देखना है जिसे हम मैं-मैं करके नित्य चिल्लाते रहते हैं यह मैं है क्या? मैं अजा करता है। अजा का अर्थ माया है। इस शरीर को ही मैं कहते हैं न? इस शरीर में क्या है हड्डियों का एक ढांचा है मांस चिपका दिया है नस नाड़ियों से बाँध दिया है रक्त का उस में संचार कर दिया है ऊपर चर्म से ढक दिया है। इसे ही अज्ञान वश मैं कहने लगे हैं। सर्वप्रथम तो इसमें "मैंपन छोड़कर" इसके यथार्थ रूप

का स्मरण करते रहें। सोचिये यह पंचभूतों का पुतला है एक दिन नष्ट हो जायगा मेरा इससे कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं। जैसे मार्ग चलते-चलते कोई किसी धर्मशाला मे विश्राम करने बैठ जाते हैं वैसे ही साधन भजन के लिये हमने इसे कुछ समय को अपना लिया है।"

आत्मदेव ने कहा—"मैं समझ गया सर्वप्रथम तो अहंता का-शरीर मेरा है मेरा ही रहेगा इस मैंपने का-त्याग। अब दूसरा सूत्र कौन-सा है ?"

गोकर्ण ने कहा—"दूसरा सूत्र है मेरे पन का त्याग। हमने घर बनाया, कहने लगे मेरा घर। कहीं से एक स्त्री ले आये कहने लगे मेरी स्त्री, एक बच्चा हो गया कहने लगे—मेरा पुत्र। कहीं से कुछ धन मिल गया कहने लगे—मेरा धन उससे एक रथ दो घोड़े ले आये कहने लगे—मेरा रथ मेरा घोड़ा। "सारांश यह है, जिसमें भी ममत्व हो उसे अपना न समझना आप कहोगे—मैं तो सबको छोड़कर वन जा रहा हूँ। फिर इसकी क्या आवश्यकता। सो केवल शरीर से पृथक होने से ही त्याग नहीं होता। धनवानों का धन उनके पास थोड़े ही रहता है वे तो उसे कभी देखते ही नहीं किन्तु मन से उन्हें ममता रहती है अमुक स्थान पर मेरा इतना धन रखा है अमुक स्थान पर मेरी इतने की हुण्डी है। ममता का स्थान शरीर न होकर मन ही है। वन में गये और मन में रहा मेरी स्त्री का क्या होगा। मेरा पुत्र कैसा होगा, मेरा घर सूना होगा। तो यह त्याग अत्याग के ही बराबर है। मन से भी इसे भुला दो। सोच लो—दृढ़ निश्चय करलो मेरा अपना कुछ नहीं।"

आत्मदेव ने कहा—"यह भी मैं समझ गया मेरेपन का जो अन्तःकरण में भाव जमा है उसे भी निकाल के फेंक देना। अच्छा अब तीसरा सूत्र बताओ।"

गोकर्ण ने कहा—"तीसरा सूत्र है इस जगत् की क्षणभंगुरता का निरन्तर चिंतन करते रहना। इस बात को न भूलना कि यह संसार परिवर्तनशील है। हम संसारी वस्तुओं के मोह में क्यों फँस जाते हैं इसीलिये कि उन वस्तुओं को नित्य समझते हैं। कोई सुन्दर रूप को देखकर लुभा जाता है, सोचता नहीं कि यह दो दिन की चमक-दमक है। कोई पूर्णचन्द्र को देखकर रीझ जाता है, यह नहीं सोचता अमावस्या को यह दृष्टिगोचर भी न होगा। जो संसार की क्षण भंगुरता का स्मरण रखेगा, वह मोह में न फँसेगा। इसलिये संसार की किसी वस्तु को स्थायी न समझना।"

आत्मदेव ने कहा—"मैं समझ गया, अहर्निशि जगत को क्षण भंगुर समझना अब चौथा सूत्र बताइये।"

गोकर्ण ने कहा—"चौथा सूत्र है भक्ति में सदा तल्लीन रहना। भक्ति के बिना हृदय सरस नहीं होता। भक्ति ही भगवान को प्रकट करती है। हृदय सरस भी हो गया उसमें गीलापन आ गया, किन्तु संसार से विराग न हुआ, तो वह गीलापन संसार की ही रचना करेगा, भगवान् की मूर्ति न बनकर संसारी पद प्रतिष्ठा की ही मूर्ति बन जायगी इसलिये वैराग्य राग रस का संपुट लगाकर उस रस के रसिक बनकर तब भक्ति भवानी की आराधना करो।"

आत्मदेव ने कहा—"यह भी बात ध्यान में आ गयी। अर्थात् वैराग्य रस में लपेटकर भक्ति रूपी जलेबी का आहार करना। या भक्ति के रसगुल्ले को वैराग्य के रस में सराबोर करके उसे ही प्रेमपूर्वक पाना। अब पाँचवाँ सूत्र और बताओ।"

गोकर्ण बोला—"पिता जी! प्राणी कुछ न कुछ किये बिना रह नहीं सकता। कुछ करना ही होगा आप भी वन में बिना करे न रहेंगे, इसलिये आप धर्म का आचरण करें। देवता, पितर

और ऋषियों के लिये श्राद्ध तर्पणादि धर्म का आचरण तो आपने गृहस्थ में रहकर बहुत कर लिया वन में तो आप भगवत् भजन रूप धर्म का ही आचरण करें।"

"श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव इस नाम रटन रूप धर्म का ही पालन करें।"

आत्मदेव ने कहा—"पाँचवाँ सूत्र भगवत् भजन, अब छटवाँ सूत्र कौन-सा ?"

गोकर्ण बोला—"छटवाँ इसके प्रतिकूल अर्थात् अधर्मों का त्याग। संसार में तो सन्ध्यालोप, परस्त्रीगमन, असत्य भाषण आदि अधर्म हैं या दूसरे वर्ण के कार्यों का पालन अधर्म है। किन्तु वन में भजन न करना यही अधर्म है, आलस्यवश सो जाना यही अधर्म है उसका त्याग।"

आत्मदेव ने कहा—"हाँ, भजन में प्रमाद न करना। अब सातवाँ सूत्र बताओ।"

गोकर्ण ने कहा—"संसार में जो कुछ भी मिलता है, सेवा से मिलता है। कहावत है सेवा करने से मेवा मिलती है। पत्नी, पति की सेवा करती है, पति भी पत्नी की दूसरी भाँति से सेवा करता है, इसी प्रकार पुत्र, पिता की, पिता, पुत्र की। आप इन सब को तो त्याग ही रहे हैं। वन में आपको साधु संत ही मिलेंगे। साधु भगवान् का रूप हैं, उनकी भगवत् बुद्धि से सेवा करना यह सबसे बड़ा साधन है। साधु सेवा बिना श्रद्धा, भक्ति नहीं बढ़ती, नम्रता नहीं आती। इसलिये यथाशक्ति तन से, वस्तु से तथा मन से सदा साधु सेवा करते रहना चाहिये।"

आत्मदेव ने कहा—"पुत्र ! साधु सेवा तो सदा सर्वदा ही सुखकर है, अब मुझे आठवाँ सूत्र बताओ।"

गोकर्ण ने कहा—"पिताजी ! संसारी भोग भी सभी को प्राप्त नहीं होते, वे भाग्य से ही मिलते हैं। सभी चाहें कि हम पालकी

पर चढ़ कर चलें। नित्य घृत दुग्ध युक्त पदार्थों को ही खायँ, तो यह असम्भव है। सब न एक-सा खा सकते हैं न एक-सा पहिन सकते हैं और न एक-सा ठाट-बाट रख सकते हैं, किन्तु अच्छा खाने की अच्छा पहिनने की अच्छे भोगों को भोगने की लालसा सभी के मन में उठती है। वन में एकान्तवास करने वाले परमार्थ के पथिक को भोगों की लालसा को भी मन से निकाल देना चाहिये। प्रारब्ध वश जो भी रूखा-सूखा समय पर प्राप्त हो जाय, उसी को पाकर काल यापन करना चाहिये। मिलेगा तो भाग्य से ही फिर लालसा करके अपने संस्कारों को कुत्सित क्यों बनावें।"

आत्मदेव ने कहा—"मन से भी भोगों की इच्छा न करना। है तो यह कठिन पर अत्यन्त आवश्यक है, मन में जब भोगों के भोगने की लालसा बनी ही रही, तो फिर भगवान् अंतःकरण में कैसे आवेंगे ? अब नववाँ सूत्र और बताओ।"

गोकर्ण ने कहा—"संसार में हमें बहुतों से राग होता है बहुतों से द्वेष हो जाता है। किसी से घनिष्ट सम्बन्ध है, अपना भाई है, पुत्र है सगा सम्बन्धी है, उससे द्वेष हो जाता है। यह मेरा बड़ा भाई धुन्धुकारी ही है, इसके प्रति आपके मन में राग नहीं, इसके विपरीत जिनसे कोई भी सम्बन्ध नहीं अपनी जाति के नहीं, धर्म के नहीं उनसे राग हो जाता है, अपने अनुकूल जिनमें हम गुण देखते हैं उनसे राग और अपने प्रतिकूल जिनमें दोष देखते हैं उनमें द्वेष हो जाता है। किसी के दोषों का चिन्तन करते रहते हैं, उससे द्वेष होना स्वाभाविक है, जिनके गुणों का चिंतन निरन्तर करते रहते हैं उनसे अनुराग हो जाता है। संसारी किसी भी व्यक्ति का गुण-दोष चिन्तन मन से भी न करना चाहिये। जो वीतरागी साधु सन्त हों उनका चिन्तन तो परमार्थ का साधक है, किन्तु संसारी लोगों के सम्बन्ध में सोचना तो तुरन्त ही त्याग देना चाहिये।"

आत्मदेव बोले—"इसके बिना तो भजन होता ही नहीं, अब दशवाँ सूत्र और बता दो और मुझे जाने की अनुमति दो।"

गोकर्ण ने कहा—"पिताजी ! बिना जल पान और भोजन के तो काम चलेगा ही नहीं, प्रभु का प्रसाद तो भोजन और जल पान करें। भगवान् की सेवा करके सेवा का जो भी प्रसादी भोग हो, जल हो उसी का तो आहार करें और निरन्तर भगवत् कथा रूप रस का अतृप्त भाव से निरन्तर पान करते रहें। इन दश सूत्रों के अनुसार आप एकान्त वास करेंगे, तो निश्चय संसार बन्धन से छूट जायँगे।"

आत्मदेव ने पूछा—"पुत्र मैं ध्यान किसका करूँ।"

गोकर्ण ने कहा—"पिताजी ! जो जिसका इष्ट हो उसी का ध्यान ठीक है, अपने इष्ट तो टेढ़ी टाँग वाले रसीले रंगीले, रस भरे सरस श्यामसुन्दर ही हैं उन्हीं का ध्यान करें।"

आत्मदेव ने पूछा—"जप किसका करें ?"

गोकर्ण बोले—"पिताजी ! सभी अपने इष्ट मन्त्र का जप करते हैं। आप भी इष्ट मन्त्र का ही जप करें।"

आत्मदेव ने पूछा—"पाठ किसका करें ?"

गोकर्ण ने कहा—"भगवान का ध्यान भगवन्नामों का स्मरण और श्रीमद्भागवत का ही पाठ। यही तो वैष्णवों का मुख्य कर्तव्य है। आप नित्य पूरी भागवत का पाठ तो कर नहीं सकेंगे। भागवत का संपूर्ण सार दशम स्कन्ध में है अतः नित्य नियम से आप दशम स्कन्ध का पाठ किया करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! उस समय आत्मदेव की अवस्था साठ वर्ष की थी। गोकर्ण पन्द्रह सोलह वर्ष के थे, किंतु उन्होंने यह संकोच नहीं किया कि मैं अपने इस छोटे से पुत्र से परमार्थ का उपदेश कैसे लूँ। परमार्थ पथ में तो जो अधिक भक्तिवान् है, वही बड़ा है वही शिक्षक है, वही उपदेशक है, वही

गुरु है और वही पूजनीय है। इस प्रकार पुत्र से उपदेश लेकर वह बुड्ढा तुरंत घर द्वार को छोड़कर वन को चला गया, उसके चित्त में तनिक भी उद्विग्नता नहीं थी चित्त स्थिर और शान्त था। वहाँ जाकर गंगा तट पर एक जीर्ण-शीर्ण मंदिर में उसने अपना डेरा जमाया। नित्य निमय से भगवान् नंदनंदन की विधिवत् पूजा करता। जो भी वन्य फल मिल जाते उनका भोग लगाता, गंगाजल पान करता और नित्य ९० अध्याय दशम स्कन्ध का पाठ करता। जो जिसका ध्यान करता है उसे उसी की प्राप्ति होती है। भगवान् कृष्णचन्द्र का ध्यान, स्मरण नाम गान करते-करते अंत में उसने श्रीकृष्णचन्द्र को ही प्राप्त कर लिया, उसका संसार चक्र सदा के लिये छूट गया। मुनियो ! पिता के जाने पर धुन्धुकारी ने जो उत्पात किये और उसका जैसे दुःखद अंत हुआ उस कथा को मैं आगे कहूँगा। आप एकाग्रचित्त से सुनें।"

छप्पय

श्वपचनि सँग नित खाइ जाइ प्रानिनि सहारै।
वेश्यागामी क्रूर मातु पितु धन हित मारै॥
भये दुखित द्विज बिलपि मरन की ठानी मन महँ।
कह्यो आइ गोकरन, पिता ! अब जाओ वन महँ॥
मैं मेरो पन तजि सकल, रटहु नाम नित नेमतैं।
दशम भागवत पढ़ि करैं, पूजा प्रभु की प्रेम तैं॥

•••○❍○•••

धुन्धुकारी का दुखद अन्त और प्रेत योनि की प्राप्ति

(१५)

दृष्टश्रुताभ्यां यत्पापं जानन्नप्यात्मनोऽहितम् ।
करोति भूयो विवशः प्रायश्चित्तमथो कथम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

सुत शिक्षा सुनि तुरत विप्र घर तजि वन आये ।
दशम पाठ, हरि ध्यान करत बैकुण्ठ सिधाये ॥
धुन्धुकारि धन हेतु मातु कूँ मारे नित नित ।
गिरी कूप महँ मातु गये गोकर्न तीर्थ हित ॥
खल घर गनिका पाँच रखि, देहि चोरि धन पट तिनहिं ।
लखि आभूषण अधिक तिहि, वध करिबो सोचो मनहिं ॥

जो जिस उद्देश्य से कार्य करता है, उसका लक्ष्य अपने उद्देश्य की सिद्धि में ही रहता है। जैसे गौ की जो सेवा के— धर्म

---

* राजा परीक्षित कह रहे हैं—"भगवन् ! प्रत्यक्ष देखता है चोरी करेंगे, तो पकड़े जायँगे, शास्त्रों में सुनता है अमुक पाप करने से अमुक नरक मिलेगा जानता है कि इससे हमारा अहित होगा, फिर भी जान बूझ कर पुरुष विवश होकर पापो मे प्रवृत्त होता है, ऐसे पापों का प्रायश्चित्त ही क्या है ? उन्हें तो नरकादि प्रेतादि योनियों मे जाना ही पड़ेगा।"

के उद्देश्य से रखता है, वह उसे प्रेमपूर्वक रखता है, वह अधिक दूध दे या कम, उसकी सेवा में त्रुटि नहीं रखता, क्योंकि उसका उद्देश्य धर्मार्जन है, किन्तु जो दूध के ही उद्देश्य से गौ को रखता है, उसकी दृष्टि दूध पर ही रहेगी। जब तक दूध देगी तब तक दूध बढ़ाने को उसे खिलावेगा, जहाँ दूध देना बन्द किया तो उसे भर पेट चारा भी न देगा, बधिक के हाथ बेच देगा। क्यों कि उसे गौ से प्रेम नहीं दूध से प्रेम है, पहिले जो वह इतना सेवा करता था, दूध के लिये ही करता था। इसी प्रकार पतिव्रता पत्नी का प्रेम पति से होता है। वे पति की प्रसन्नता के निमित्त सब कुछ कर सकती हैं। अपना आभूषण बेच सकती हैं, अपने शरीर के सुखों को छोड़ सकती हैं, यहाँ तक कि पति की रक्षा के निमित्त अपने प्राणों का भी बलिदान कर सकती हैं। किन्तु जो कुलटा हैं, व्यभिचारणी वेश्या हैं, पण्यस्त्री हैं वे तो पुरुष को पैसा के लिये भजती हैं। जब तक उस पर पैसा रहेगा, बड़ी मीठी मीठी बातें करेंगी, अत्यधिक प्रेम दिखावेंगी, किन्तु जहाँ वह धन-हीन हुआ, तो फिर बात भी न पूछेंगी, दूसरे धनी से सम्बन्ध जोड़ लेंगी। उनमें भी कुछ दुष्टायें तो ऐसी होती हैं, कि अधिक धन के लोभ से वे धनिकों की गुप्त रूप से हत्या भी कर देती हैं। यही बात पुरुषों के सम्बन्ध में है जब वे किसी स्त्री को अग्नि को साक्षी देकर धर्मपत्नी के रूप में वरण करते हैं तो जीवन भर उसका निर्वाह करना ही होता है। उसके रोगिणी होने पर घर का सर्वस्व होम देते हैं। उसको ओर कोई बुरी वासना से उँगली भी उठा दे तो अपने प्राणों को उसकी रक्षा के लिये समर्पित कर देते हैं। किन्तु काम भाव से जब किसी को फँसा लेते हैं, तो जब तक उनकी इच्छा पूर्ति होती है तब तक रखते हैं, फिर उसे त्याग देते हैं, बेच देते हैं, कुछ दुष्ट तो ऐसे लोभी होते हैं भले घर की लड़कियों को प्रेम का दम्भ रचकर भगा लाते हैं, फिर उनका

सर्वस्व अपहरण करके हत्या कर देते हैं। इसलिये समाज में जब तक धर्म को प्रधानता न दी जायगी, धर्म को प्रधान मानकर जब तक सम्बन्ध न रखा जायगा, तब तक सुख शान्ति असंभव है। धर्म की उपेक्षा करके कोई व्यक्ति कोई परिवार, कोई देश तथा कोई राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। धर्म एक कवच है जो प्राणियों की सर्वत्र रक्षा करता है। धर्महीन सम्बंध ही दुराचार है, पापाचार है, दुःख और संताप को देने वाला है, अतः बुद्धिमान् पुरुषों को तथा स्त्रियों को कभी भी किसी से धर्महीन सम्बन्ध किसी भी दशा में स्थापित न करना चाहिये। इसका परिणाम इतना दुःखद होता है, कि इसके असंख्यों उदाहरण हैं और नित्य होते हैं फिर भी यह प्राणी काम तथा लोभ में ऐसा मदान्ध हो जाता है, कि इन सभी उदाहरणों के रहते हुए सबकी उपेक्षा करता है और अपना अत्यन्त दुखद अंत करता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! धुन्धुकारी के कुकृत्यों से दुखी होकर विप्रवर आत्मदेव वन में चले गये और नित्य भगवत् ध्यान तथा भागवत के दशम स्कन्ध के पाठ से वैकुण्ठ पधार गये। अब रहे गोकर्ण उन्होंने सोचा—"इस दुष्ट के साथ मेरा भी रहना अब उचित नहीं। यह सोचकर वे भी तीर्थाटन की सोचने लगे। इसी बीच में एक अत्यन्त दुखद घटना घट गयी।"

यद्यपि धुन्धुकारी पिता का कुछ भी आदर नहीं करता था, समय-समय पर उन्हें भी पीट देता था, फिर भी वे बड़े थे, उनके घर में रहने से कुछ संकोच तो होता ही है। जब वे भी घर छोड़कर चले गये, तो इसे बड़ी प्रसन्नता हुई। अब तो यह सब प्रकार से स्वतंत्र हो गया। अपनी माता से नित्य धन माँगता उस पर धन था ही कहाँ ? जो कुछ था धुन्धुकारी ने पहिले ही चोरी से उड़ा दिया था अब उसे धन की बड़ी आवश्यकता रहती

एक दिन उसने अपनी माता से कहा—"तेरे पास कुछ भी तो गड़ा गुप्त धन होगा ?"

उसने कहा—"बेटा ! मेरे पास अब धन कहाँ है जो कुछ था, वह सब तैंने नष्ट कर दिया। अब मेरे पास विष खाने को फूटी कौड़ी भी नहीं।"

धुन्धुकारी ने कहा—"ऐसा कदापि हो नहीं सकता। धन तेरे पास है, अवश्य है तू देती ही नहीं। तू सीधे थोड़े ही देगी, सीधी उँगली से घी नहीं निकलता। लात का देव बात से नहीं मानता। यह कहकर उसने अपनी माता को बहुत अधिक मारा। मारते-मारते अधमरी कर दी और कह दिया। यदि कल तैंने अपना गुप्त धन मुझे निकालकर नहीं दिया तो तुझे यहीं मार डालूँगा।"

माता भी नित्यप्रति के दुःखों से बड़ी दुखी हो गयी थी, उसने सोचा—"दूसरे की कोख से पैदा हुआ, मारता है मुझे। यह सब मेरा ही दोष है। मैंने अपने धर्मात्मा पति से साथ छल किया, उनके साथ विश्वासघात किया, मैं उसी पाप का फल भोग रही हूँ अति उग्र पापों का फल इस जन्म में मिल जाता है, ऐसी यातनायें तो नरक में भी न मिलती होंगी। इससे तो अच्छा यही है, मैं आत्मघात कर लूँ। वह दुष्ट मुझे मार तो डालेगा ही, मैं अपने ही आप क्यों न मर जाऊं। विष खा लूँ। फिर सोचा—विष लाकर कौन देगा, मेरे पास पैसा भी नहीं। तो क्या तुङ्गभद्रा में कूद जाऊँ। सोचने लगी, तुङ्गभद्रा में सम्भव किसी ने बचा लिया, तो फिर कहाँ जाऊँगी। उसने सोचा—पास के कूएँ में ही कूद पड़ूँ रात्रि में कौन देखेगा। प्रातःकाल तक मर ही जाऊँगी। यही सब सोचकर जब सब सो गये तो वह चुपके से उठी और कूएँ में कूद पड़ी और मर गयी।"

प्रातःकाल सबको पता चला। इस घटना से गोकर्ण को भी

बड़ी ग्लानि हुई। वे सोचने लगे इस गाँव में रहेंगे, तो इस दुष्ट की दुष्टता से मन में विक्षेप होगा, अतः इस गाँव को छोड़ दो चलो तीर्थों में भ्रमण करें। यह सोचकर वे भी तीर्थयात्रा के निमित्त निकल पड़े। वे तो पहिले ही समझते थे, कि इसका परिणाम यही होगा। अतः उन्हें इस घटना से कोई विशेष सुख-दुख नहीं हुआ। क्योंकि उनकी दृष्टि में दुख-सुख जय-पराजय, जीवन-मृत्यु, शत्रु-मित्र सभी समान थे, वे समदर्शी योगी और शास्त्र के मर्म को जानने वाले थे। कालक्षेप के निमित्त वे पवित्र तीर्थों की आनन्दपूर्वक यात्रा करते रहे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब तो यह दुष्ट धुन्धुकारी सर्वथा स्वतन्त्र हो गया। इधर-उधर से पाँच कुलटा वेश्याओं को उसने घर में रख लिया। वनों में जाकर हिरन, शशक पशु-पक्षी मारकर लाता, उनका मांस स्वयं खाता उन्हें खिलाता। सुरापान करता उन्हें भी पिलाता। वे नित्य ही उससे वस्त्र आभूषण तथा शृङ्गार की अनेक वस्तुओं की माँग करतीं। वह द्यूत क्रीड़ा से कभी कमा लाता कभी गँवा आता, कभी किसी की वस्तु ही उठा लाता। किन्तु इससे उसका काम नहीं चलता। एक ही स्त्री की इच्छित वस्तुओं को जुटाना कठिन है सो उसके घर में तो पाँच-पाँच बैठी थीं। एक दिन सबने कहा—"हमें या तो सोने के आभूषण लाकर दो, नहीं हम सब चली जायँगी।"

वह तो काम वासना के कारण अंधा हो गया था। कामी के लिये कामिनी का वियोग मृत्यु से भी बढ़कर असह्य होता है, वह अपनी प्रेयसी के लिये सब कुछ करने को तैयार हो जाता है। उन वेश्याओं को प्रसन्न करने के निमित्त वह घर से निकल पड़ा। अँधेरी रात्रि थी, किसी धनी के घर में उसने सेंध लगा दी। संयोग की बात कि उसके घर के सभी लोग सोये हुए थे। उसने एक बड़ी मंजूषा का ताला तोड़ा। उसमें बहुत ही सुन्दर-सुन्दर

आभूषण थे, रेशमी वस्त्र थे। सब को लेकर वह चुपके से निकल आया। मन में अत्यन्त ही प्रसन्न था, कि आज मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया। आज मैं अपनी प्रियतमाओं को सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषणों से लाद दूँगा, जिससे वे मुझसे अत्यधिक प्यार करेंगी। मेरे ऊपर प्राण देंगी।"

उस पापी को यह पता नहीं था, कि प्राण देंगी नहीं प्राण ले लेंगी। उन्हें कोई धुन्धुकारी से तो प्रेम था नहीं उनका इष्ट तो धन था। धन लेकर फिर वे किसी काठ के उल्लू कामी को फँसावेगी। उनकी प्रीति तो पैसा की है।

धुन्धुकारी ने बड़े ही उल्लास से वह सब धन उन वेश्याओं को दिया। इतने सुन्दर-सुन्दर बहुमूल्य आभूषण इतने सुन्दर वस्त्र पाकर वे परम प्रसन्न हुईं। अब तक उन स्त्रियों को ऐसा विश्वास था कि यह कहीं से कमाकर लाता होगा या द्यूत क्रीड़ा या किसी और कार्य से। आज जब सहसा इतने वस्त्राभूषण जाते ही ले आया, तो वे समझ गयीं, यह पक्का चोर है, नित्य इतना धन चोरी करके ही लाता है। वैसे तो वे पाँचों आपस में एक दूसरी से द्वेष मानती थीं, किन्तु जब इतना धन आ गया और उसने पाँचों को ही सौंप दिया, तो समान स्वार्थ होने के नाते वे सब एक हो गयी और आपस में मिलकर सम्मति करने लगीं। उनमें जो सबसे अधिक सुन्दरी थी वह बोली—"बहिनो! तुम जानती हो, यह इतना धन कहाँ से लाया है?"

एक बोली—"इसमें भी कोई पूछने की बात है क्या, यह तो चोरी का धन है, किसी के पहिने हुए वस्त्राभूषण हैं?"

एक बोली—"क्या इतना बहुमूल्य चोरी का धन हम सब पचा सकती हैं?"

दूसरी बोली—"पच भी सकता है नहीं भी पच सकता।

यदि राज कर्मचारियों को पता न लगे तब तो पचा ही समझो। इन्हें पता चल गया तो फिर गाँठ का भी जायगा।"

इस पर एक ने कहा—"एक दिन की बात हो, तब तो पच भी जाय, यह तो नित्य का व्यापार है। सौ दिन चोर की तो एक दिन स्वामी की भी बन आती है, किसी दिन तो चोरी अवश्य पकड़ी जायगी।"

सुन्दरी ने कहा—"इसका परिणाम क्या होगा ?"

दूसरी बोली—"परिणाम यही, कारावास, सूलों, अंग भंग। इस पर ही नहीं हम पर जो भी इसका दिया धन है, सब अपहरण कर लिया जायगा, क्योंकि यह सब चोरी का तो है ही। इतनी बड़ी चोरी की वस्तु छिपायी नहीं जा सकती। इन बहुमूल्य वस्त्रों को जहाँ पहिनकर हम निकली नहीं कि कलई खुली नहीं।"

सुन्दरी ने पूछा—"तो अब किया क्या जाय।"

एक अत्यन्त क्रूर स्वभाव वाली बहुत ही धीरे से बोली—"इसका एक ही उपाय है। यह तो राजपुरुषों द्वारा पकड़ा ही जायगा, यह तो निश्चित ही बात है। मृत्यु दंड ही इसे दिया जायगा। इसके साथ हम सब भी फँसेंगी। हम कहीं की भी न रहेंगी। प्राण दंड हमें न भी हुआ तो हमारा सर्वस्व अपहरण करके कारावास तो भोगना ही पड़ेगा। फिर हमारी अवस्था भी ढल जायगी। हमें कौन अपनावेगा। इससे अच्छा तो यही है हम सब मिलकर आज ही इसे मार डालें। इससे हम और हम लोगों का धन तो सुरक्षित रहेगा।"

इस पर एक काँपती हुई बोली—"यह स्वभाव का बड़ा क्रूर है। बली भी बहुत है। हम इसे कैसे मार सकेंगी ?"

इस पर वह उत्तेजित होकर बोली—"हम पाँच-पाँच वह

अकेला। हमसे इतना भी न होगा। तुम सब मेरी बात मानों मैं यह सब करूँगी।"

यह कहकर वह सबको युक्ति बताने लगी। एक छोरी से कहने लगी—"तुझे वह सबसे अधिक चाहता है तू जाकर उसके पास लेट जा मैं धीरे-धीरे उसके पैर दबाऊँगी। जब वह गहरी निद्रा मे सो जाय तो सुदृढ़ रस्सी से उसे कसकर खाट से बाँध देंगी फिर गला घोटकर मार देंगी।"

सबने एक स्वर में इस सम्मति को स्वीकार कर लिया। जब धुन्धुकारी प्रगाढ़ निद्रा में सो गया तो सबने मिलकर उसे कसकर खाट से बाँध दिया खाट के चारों पाये रस्सी से बाँध दिये फिर एक रस्सी उसके गले में बाँधकर तीन एक ओर लग गयीं दो एक ओर लग गयीं और वह पूरी शक्ति से खींचने लगीं खीचने से उसकी आँख निकल आयी और वह हुच्च-हुच्च करने लगा। एक उसने चीख मारी तब एक ने उसके मुँह में कपड़ा ठूँस दिया, किन्तु उन स्त्रियों के खींचने पर भी उसके प्राण निकले नहीं वह तड़फड़ाने लगा। कंठ घुर्र-घुर्र करने लगा।

एक ने कहा—"तेल डालकर इसे जला दो।"

दूसरी ने कहा—"ऐसा मत करो, इससे घर में भी आग लग सकती है धूँआ दुर्गंध से दूसरे लोग भी आ सकते हैं। लोहे की सलाकायें गरम करके इसके मर्म स्थानों में घुसेड़ दो। इससे मर जायगा। तब दो तीन ने जाकर दहकते बहुत से अंगार जलाये लोहे की सलाका गरम कर करके उसके गुप्त स्थानों में मर्म स्थानों में चुभोने लगी। इससे उसे पीड़ा तो महान् हो रही थी। किन्तु प्राण नहीं निकल रहे थे। तब एक ने कहा सब अंगारे इसके मुख में भर दो उसकी लपटों से झुलस कर मर जायगा। तब सबने लोहे के बर्तन में रखकर बहुत से

अंगार उसके मुँह में भर दिये। रस्सी को बलपूर्वक खींचा। बड़े कष्ट से वह मर गया।

तब कई स्त्रियाँ घबड़ा गयीं। उसका भयंकर मृतक शरीर बड़ा ही भयानक लगने लगा। उस क्रूर स्वभाव की स्त्री ने कहा, "ऐसे घबराने से काम न चलेगा। प्रातःकाल हो गया, और किसी को भी पता चल गया, तो हम सब सूली पर चढ़ायी जायगीं या जीवित आधी भूमि में गड़वा कर कुत्तों से नुचवाई जायँगी। अब इसी प्रकार इसे भूमि में गाड़ दो।" सब ने मारे भय के इसे स्वीकार कर लिया। घर में एक बड़ा गड्ढा था। उन्होंने उसमें से थोड़ी मिट्टी और निकाली फिर सब उसे उठाकर उस गड्ढे में ले गयीं। नीचे डालकर ऊपर से मिट्टी भर दी। भूमि को समान करके उसे लीप पोत दिया। फिर आकर सबको जल से धो दिया। दिन भर वे घर से निकली ही नहीं।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! कोमलाङ्गी स्त्रियों में इतना साहस कहाँ से आ गया। यह तो उन्होंने बड़ा ही बीभत्स कांड कर डाला।"

सूतजी ने घृणा के स्वर में कहा—"भगवन्! यह नारी तभी तक कोमलांगी है, जब तक सत्य, सदाचार दयाधर्म और ईश्वर का भय इनके हृदय में रहता है। जहाँ यह इनसे विमुख होकर काम के वश होकर पाप करने में प्रवृत्त हुई, तो फिर इसे किसी की लाज नहीं रहती, दुराचारिणी, कुपथगामिनी, व्यभिचारणी धन के लोभ से सबको अपना शरीर बेचने वाली स्त्री धन के लिये कौन-सा पाप नहीं कर सकती। जिस समय ये वज्रहृदया बनकर पाप में प्रवृत्त होती हैं, तो साक्षात पिशाचिनी डाइन रक्तपान करने वाली बन जाती हैं। ये ऐसी माया रच लेती हैं कि कोई भी इनकी थाह नहीं ले सकता। देखिये जो चोरी करके भी इसका पालन करता था, उसे धन

के लोभ से इन्होंने मार डाला और किसी को पता भी न लगने दिया।

कुछ दुष्ट लोग चोर-जुआड़ी तथा सुरापी जो उसके साथी थे, एक दो दिन जब धुन्धुकारी को उन्होंने नहीं देखा, तो वे उसके घर गये और उन वेश्याओं से उसके सम्बन्ध में पूछने लगे, तो उन्होंने सरलता से कह दिया—"आप सब तो उनकी आर्थिक दशा जानते ही थे, इस नगर में जब उनका काम न चला, तो हमसे यह कहकर कि परदेश से कुछ धन कमा लाऊँ, दो दिन हुए कहीं दूर देश को चले गये हैं। हमने पूछा भी-कब तक लौटकर आओगे। इसका उन्होंने गोल-मोल उत्तर दे दिया—"लौट आऊँगा साल ६ महीने में।" सम्भव है इस सम्वत्सर के अन्त तक लौट आवें।" इनकी सरल बातों का सभी को विश्वास हो गया। सबने सोचा—"हाँ, धन के लिये तो वह दुखी रहता ही था, सम्भव है यहाँ पकड़े जाने के भय से दूर देश में चोरी करने गया हो।"

शौनकजी बोले—"सूतजी! इतने बड़े पाप को इन वेश्याओं ने छुपा कैसे लिये?"

सूतजी बोले—"महाराज, आप साधु हैं, इन व्यभिचारिणी स्त्रियों के फरफन्दों को नहीं जानते। महाराज, जिनका मन दूषित हो जाता है, जिनके सिर पर काम का भूत सवार हो जाता है, वे तो घर में रहती हुई अपने पति को पुत्र को परिवार वालों को छल लेती हैं, फिर ये तो वेश्यायें ही थीं। इनका तो काम ही लोगों को ठगना है। महाराज! इनकी वाणी ऐसी मीठी होती है, कि कामी पुरुष इनके हाथों बिक जाते हैं, इनके संकेतों पर नाचने लगते हैं, इनके कहने पर सभी कुकर्म कर सकते हैं, ऊपर से तो प्रेम का ऐसा प्रदर्शन करती हैं, मानों प्राण दे देंगी, इन गणिकाओं का हृदय छूरे की धार से

भी अधिक तीव्रण होता है। इनका प्रियपात्र कोई पुरुष नहीं होता इन्हें धन ही प्यारा होता है। इसीलिये तो शास्त्रों में बार-बार चेतावनी दी है, कि इन व्यभिचारिणी स्त्रियों का विद्वान् पुरुष को कभी विश्वास न करना चाहिये, किन्तु भगवन्! यह काम सबको अन्धा बना देता है, जिस पर मन अटक जाता है वह दोषों की खानि होते हुए भी मन मोहक लगती है, यह जानते हुए भी कि इसने अनेकों को ठगा है, बहुतों के साथ विश्वासघात किया है, फिर भी मनुष्य फँस जाता है, इसे पूर्वजन्म के पापों के फल के अतिरिक्त और कह ही क्या सकते हैं।"

शौनकजी पूछा—"तो हाँ सूतजी! फिर उन स्त्रियों का क्या हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! उनका क्या होना था, वे कोई धुन्धुकारी की धर्मपत्नी थोड़े ही थीं जो उसका श्राद्धतर्पण करातीं, उसके घर में रहतीं। वे तो बहुभर्तृका थी, नित्य नूतन पुरुषों से सम्बन्ध जोड़ने वाली थीं। इस भय से कि कोई उन पर संदेह न करे, कुछ दिनों तो धुन्धुकारी के उसी घर में रहीं। जब बात पुरानी पड़ गयी, तो माल मसाला लेकर चलती बनीं। वस्त्राभूषणों की पोटली बाँधकर खिसक गयीं। वहाँ से चंपत हो गयीं फिर किसी दूसरे को जाकर फँसाने लगीं। उनका यही तो व्यापार था।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! उस धुन्धुकारी का क्या हुआ? उसकी कैसी गति हुई?"

सूतजी बोले—"महाराज! उसने जैसा करा वैसा भरा। उसकी तो गति निश्चित ही थी, जो इस प्रकार पाप से मरता है, जिसके श्राद्धतर्पण नहीं होते, उस पापी पुरुष को तो भयंकर प्रेतयोनि ही मिलती है। धुन्धुकारी भी मरकर अपने कुटिल कर्मों के कारण, बड़ा ही क्रूर भयावना प्रेत बना। प्रेत योनि में

जो-जो उसे यातनायें मिलीं जो-जो उसकी दुर्गति हुई उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

तनु कसि मुख महँ अगिनि भरी जीवन बिनु कीन्हों।
गाड़ि भूमि महँ भगीं बाँटि धन सबने लीन्हों॥
बैन सुधासम नैन सरस हिय-विष वेश्यनि को।
कबहुँ विज्ञ विश्वास करें नहिं इनि कुलटनि को॥
धुन्धुकारि बहु यातना, सहि अति दुख तनु तजि गयो।
नीच करम कारन कुटिल, प्रेत भयानक भरि भयो॥

धुन्धुकारी प्रेत पर गोकर्ण की कृपा

(१६)

प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः ।
बद्धवैरेषु भूतेषु मोहितेष्वात्ममायया ॥
पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः ।
प्रीते हरौ भगवति प्रीतेऽहं सचराचरः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० ३९, ४० श्लो०)

छप्पय

वायु रूप तन शीत घाम महँ ठिठुरत सिसकत ।
तृषित बुभुक्षित दुखित फिरत रोवत नित इत उत ।
तीरथ करि गोकरन लौटि निज घर महँ आयो ।
धारि भयंकर रूप राति महँ ताहि डरायो ॥
कबहुँ अनल, अज, पुरुष पुनि बनै कबहुँ करि, सुर, महिष ।
समुझि गये गोकरन यह, प्रेत, मरयो अहि अगिनि विष ॥

पाप करने वाला प्राणी पापों का फल भोगने को पहिले नरकों

---

* श्री शंकरजी पार्वती जी से कह रहे हैं—"हे भद्रे ! साधु लोग अपने प्राणों का पण लगाकर भी दुखी जीवों की रक्षा किया करते हैं। परस्पर में एक दूसरों से वैर करने वाले भगवान् की माया से मोहित इन जीवों पर जो साधु पुरुष कृपा करते हैं, उनसे सर्वात्मा श्रीहरि बड़े प्रसन्न होते हैं, भगवान् की प्रसन्नता मे सम्पूर्ण चराचर जीव प्रसन्न होता है, मैं भी प्रसन्न होता हूँ।"

में जाता है, जब घोर पापों का यातना देह से बहुत दिनों तक फल भोग लेता है और कुछ पाप शेष रह जाते हैं, तो उसे पृथ्वी पर नीच योनियों में भेज दिया जाता है, कूकर, शूकर, काक अथवा दूसरी योनियों में आता है, मनुष्य होता है तो हिंसक चांडाल आदि देह से। जो पुण्यवान् हैं वे सीधे स्वर्ग जाते हैं, वहाँ बहुत दिनों तक अपने पुण्यों के अनुसार स्वर्ग सुखों को भोगते हैं, जब कुछ पुण्य शेष रह जाते हैं, तो पृथ्वी पर उत्तम कुल में अच्छी योनि में उत्पन्न होते हैं। जिनके पुण्य-पाप प्रायः बराबर होते हैं, वे न स्वर्ग जाते हैं न नरक। तुरंत पृथ्वी पर ही कर्मानुसार योनि पा जाते हैं। एक चौथे प्रकार के लोग और होते हैं, जो अकाल मृत्यु से मरते हैं। वास्तव में अकाल में तो किसी की मृत्यु होती नहीं मरते तो सब अपने विधान के समय ही हैं, किन्तु एक तो मृत्यु के समय पर रोग आदि से मरते हैं। मरने के पूर्व उन्हें भान हो जाता है मैं अब बचूँगा नहीं। उनकी अवस्था चाहे जितनी भी क्यों न हो, उनकी मृत्यु तो काल से हुई है। किन्तु एक मृत्यु ऐसी होती है, कि उन्हें मरने का ध्यान तो है नहीं अकस्मात् किसी ने उन्हें मार दिया। किसी ने पीछे से सिर काट दिया, आग में फेंक दिया, स्नान करते समय जल में डूब गये, पेड़ से गिरकर मर गये, सर्प ने काट खाया। किसी प्रेत पिशाच ने गुप्तरूप से आकर उसके हृदय के रक्त को पी लिया जिससे उसके हृदय की गति रुक गयी, तो उन्हें अपनी वासना के अनुसार प्रेतयोनि मिलती है। न वे नरक जाते हैं, न स्वर्ग न पृथ्वी पर उनका जन्म होता है वे अन्तरिक्ष में प्रेत बनकर रहते हैं। क्योंकि उनकी भोगवासनायें इस भूमि में अभी शेष हैं, इनकी इच्छायें अपूर्ण हैं उनका स्थूल शरीर तो होता नहीं, अङ्ग सब वायु के बने रहते हैं, इच्छायें वे ही सब मनुष्य योनि की बनी रहती हैं। जैसे कोई प्यासा है, उसका किसी ने

सिर काट दिया और प्यासा ही मर गया। मर कर प्रेत हुआ तो वह प्यासा ही घूमता रहेगा, उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि अपने हाथ से जल पी ले। उसके परिवार वाले या प्रेमी उसके निमित्त जल दान करें तो उसे मिल जायगा। किसी स्त्री का किसी पुरुष से अनुचित प्रेम है या पुरुष का किसी स्त्री से, और उनकी अकाल मृत्यु हो गयी, यदि पुरुष की हुई है तो वह प्रेत बनकर वासना में भरा उसके पीछे मँडराता रहेगा, यदि स्त्री मरी है तो डॉइनि पिशाचिनी आदि बनकर उससे प्रणय की इच्छा करेगी, किन्तु शरीर न होने के कारण वे कुछ कर नहीं सकते। अकृत-कार्य ही रहेंगे।

बहुत से लोग भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी साकिनी आदि योनियों को नहीं मानते। बहुत-सी सम्प्रदाय के लोग पुनर्जन्म और इन योनियों को नहीं मानते, किन्तु उनके न मानने से कोई उनका अस्तित्व न चला जायगा, कोई आकाश को न माने तो आकाश चला थोड़े ही जायगा। जो जिस भाषा का प्रेत होता है, मरकर वह जिसके ऊपर आता है, वह उस भाषा को न जानते हुए भी प्रेत की भाषा बोलता है। कई लड़कों पर फारसी भाषा भाषी प्रेत आये। वे फारसी का एक अक्षर भी नहीं जानते थे और शुद्ध फारसी बोलने लगे, अंग्रेज प्रेत वैसी अंग्रेजी। वे दूसरे के माध्यम से बोल सकते हैं, उनमें प्रायः बोलने की शक्ति नहीं होती।

प्रेतों के भी अनेक भेद हैं और उनकी शक्ति सामर्थ्य भी भिन्न-भिन्न है। बहुत से प्रेतों में इतनी सामर्थ्य होती है, कि वे कुछ काल के लिये स्थूल रूप भी रख लेते हैं। बहुत से अपने प्रभाव से या किसी सन्त महात्मा के मंत्र के प्रभाव से बिना किसी-माध्यम के भी बातें कर लेते हैं। प्रेत भी एक शासन में रहते हैं, वे अपने शासक की आज्ञा बिना कहीं जा नहीं सकते, किसी

किसी को स्वतन्त्रता भी होती है। प्रेतों में बहुत से सौम्य होते हैं जो दूसरों का उपकार करते हैं कभी किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाते। दुष्ट तो बहुत होते ही हैं, वे दूसरों को प्रायः भयभीत ही करते हैं, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रेत योनि नीच योनि है वह मनुष्य योनि से अत्यंत नीची पाप योनि है। मनुष्यों का कुछ बिगाड़ नहीं सकते। मनुष्य भूत प्रेतों से डरता है अपने हृदय के पाप के कारण। जो सदाचारी हैं, कृतोपासक हैं, मन्त्र जापक हैं उनसे प्रेत डरते हैं, उनके पास प्रेत आवेंगे भी तो दीन होकर अपने उपकार के निमित्त अपना उद्धार कराने। परोपकारी लोगों को ऐसे दुखियों का दुःख दूर कर देना चाहिये। उनके उद्धार के निमित्त जप, तप तीर्थ, व्रत अनुष्ठान जो भी उचित हो करा देना चाहिये, क्योंकि संत परोपकारी फलवाले वृक्षों के समान हैं। फलवान वृक्षों से सभी आशा रखते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! धुन्धुकारी की अकाल मृत्यु हुई थी। उसका प्राण भयंकर यातनाओं को सहते-सहते बड़े कष्ट के निकला था। मरते समय वह देख रहा था, जिन वेश्याओं के लिये इतने पाप किये प्राणों को हथेली पर रखकर, वे ही धन के लोभ से गरम सलाकायें मेरे गुह्यस्थानों में चुभो रही हैं इससे मरते समय उसे उनसे हार्दिक घृणा हो गयी। उसे अपने माता-पिता की दुर्गति का भी स्मरण आया। अपने ब्राह्मण वर्ण का और गोकर्ण की साधुता का भी स्मरण आया। किन्तु उसने पाप ऐसे भयङ्कर किये थे, प्राण यातनाओं के कारण ऐसे व्याकुल हो रहे थे, कि वह कुछ स्मरण न कर सका। यही इसके मन में टीस रह गयी, कि ब्राह्मण होकर मैंने कोई सुकृत नहीं किया। इसी समय अग्नि के अंगारे मुख में भरने से गला खिचने से उसकी मृत्यु हो गयी।

उन दिनों गोकर्ण किसी आस-पास के ही तीर्थ में थे, वहाँ

किसी अपने ग्रामवासी से भेंट हो गयी। उसने धुन्धुकारी की मृत्यु का सब समाचार कहा। धुन्धुकारी को अनाथ समझकर गोकर्ण ने गया में जाकर उसका श्राद्ध किया तथा अन्य तीर्थों में भी उनके निमित्त श्राद्ध तर्पण कर दिया। प्रेत को भी पता चल गया। मेरा भाई मेरे ऊपर दया का भाव रखता है।

पार्थिव शरीर में तो स्थूल भोगों की लालसा लगी रहती है भोगों को जुटाने के लिये चिन्ता तथा परिश्रम भी करना पड़ता है, क्योंकि मानव योनि तो कर्मयोनि है। किन्तु देवता यक्ष, गन्धर्व, भूत प्रेत पिशाच आदि योनियाँ तो भोग योनि हैं। इनमें आगे के लिये कुछ कर्म नहीं कर सकते। पिछले ही पुण्य-पापों का फल भोगना पड़ता है पिछली ही पुण्य-पाप की बातें याद आती रहती हैं। आगे के लिये न बढ़ा सकते हैं न कोई स्वयं उन्हें घटाने का कर्म कर सकते हैं जैसे छोटा-बच्चा सर्वथा माता-पिता के अधीन रहता है वे उसे खिला दें तो खा ले नहीं भूखा रोता रहे स्वयं कुछ करने में असमर्थ है। ऐसे ही प्रेत अन्तरिक्ष में अपनी वासना के अनुसार भूखे प्यासे चिंतित दुखित घूमते रहते हैं। अपनी भोग वस्तुओं पर मँडराते रहते हैं किन्तु उन्हें भोग नहीं सकते।

धुन्धुकारी को मरते समय अपने कुकर्मों पर पश्चात्ताप हुआ कुकर्म तो उसने किये ही थे इससे वह प्रबल प्रेत हुआ। वायु का उसका शरीर था, जहाँ चाहे उड़कर जा सकता था। उसके सूक्ष्म शरीर को पूर्व वासना के अनुसार जाड़ों में शीत लगता था किन्तु वस्त्र पहिनने की उसमें सामर्थ्य नहीं थी। धूप लगती थी, किन्तु छाया नहीं लगा सकता था। मरते समय उसके मुख में उन दुष्टा वेश्याओं ने दहकते हुए अँगारे भर दिये थे इससे उसे बड़ी प्यास लगी थी भूखा भी था। उसी भूख-प्यास में उसने प्राण छोड़े थे। अतः भूख-प्यास से व्याकुल

इधर से उधर भटकता रहता था, किन्तु न स्वयं कुछ खा सकता था न पानी ही पी सकता था। अपने प्रारब्ध को कोसता हुआ दशों दिशाओं में चंचल बना घूमता रहता था। उसके न माता थे न पिता थे न कोई सगा भाई बन्धु ही था, जिनसे पिंडदान की आशा करे। कोई सज्जन मित्र भी नहीं था जो उसके निमित्त कुछ दान पुण्य धर्म कर दे। कोई पीपर आदि का पुण्य वृक्ष भी उसने नहीं लगाया था कि पुत्र रूप में वही अपने पत्रों से उसे जल दे दे। किसी को दान भी नहीं किया था कि समय पर वही सहारा दे दे। एक पर ही उसकी आशा टिकी थी, वह भी अपने किसी उपकार या प्रेम के कारण नहीं उसकी साधुता सज्जनता तथा सब भूतों पर दया करने की प्रवृत्ति के कारण ही उसे आशा थी, वे थे महात्मा गोकर्ण। वह सोचता था—"मैं चाहें कैसा भी नीच पापी क्यों न होऊँ किन्तु गोकर्ण से मेरा भाई पने का नाता है। उन्होंने अपने उपदेश से मेरे पिता का उद्धार किया क्या वे मेरा उद्धार नहीं करेंगे। वे कृपालु हैं दया के सागर हैं अवश्य मुझ दीन हीन पर दया दिखावेंगे, अवश्य ही मेरे उद्धार के लिये कुछ साधन करेंगे।"

उसका शरीर उसी घर में गड़ा था उसके मोह से तथा भाई की आशा से उसी घर में वह रहता था। घूमघाम कर वहीं आ जाता था। मृत्यु का भयंकर दृश्य तथा पापों के वीभत्स चित्र उसके सम्मुख आ जाते उसे स्मरण करके वह रोता रहता दुखित चिंतित तथा व्यग्र बना रहता।

कुछ काल में तीर्थयात्रा करके गोकर्णजी लौटकर अपने घर आये। जिस दिन उन्होंने अपने ग्राम में प्रवेश किया, उस दिन रात हो गयी थी सब लोग सो गये थे, उन्होंने सोचा—"चलो अब अपने ही घर में चलकर सो जायँ, कल प्रातः किसी से

मिलेंगे।" यह सोचकर वे चुपचाप अपने घर में चले गये। घर खुला पड़ा था। भय के कारण वहाँ कोई आता जाता नहीं था। आषाढ़ का महीना था, बड़ी गरमी थी। वे आँगन में ही आसन लगा कर लेट गये। मार्ग के थके थे, पड़ते ही उन्हें प्रगाढ़ निद्रा आ गयी। आधी रात के समय उन्हें ऐसा लगा, कोई उन्हें जगा रहा है। वे उठकर बैठ गये। इधर-उधर देखा, कोई भी दिखायी नहीं दिया किवाड़ बन्द थे, उन्होंने सोचा-मुझे भ्रम हुआ। फिर लेट गये। कुछ देर के पश्चात् फिर खटर-पटर हुई। वे फिर बैठ गये। कोई नहीं दिखायी दिया। वे थोड़ी देर बैठे रहे। सामने उन्हें एक मेढ़ा-सा दिखायी दिया। उन्होंने–हट हट कहा, तो वह वहाँ का वहीं अदृश्य हो गया। फिर उन्हें दीखा कोई हाथी खड़ा है। उन्होंने आँखें मलीं कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ, किन्तु वह स्वप्न नहीं था, सत्य था। कुछ काल में हाथी भी विलीन हो गया, बड़ा भारी भैंसा दिखायी दिया। गोकर्ण निश्चल भाव से देखते रहे। क्षण भर में भैंसा भी अन्तर्धान हो गया। जलती हुई अग्नि दिखायी दी, वे उठे देखा अग्नि भी वहाँ नहीं है। फिर कोई देवता सा दिखायी दिया वह भी विलीन हो गया फिर एक काला सा जिसका मुख जला है जो पहिचाना नहीं जा सकता एक पुरुष सा दिखायी दिया।

अब तो गोकर्णजी समझ गये, यह कोई दुर्गति को प्राप्त पुरुष है, किसी कारण इसकी अकाल मृत्यु हो गयी है, इसे प्रेत-योनि प्राप्त हुई है, मुझसे कुछ सहायता चाहता है।

वे बड़े गम्भीर तथा धैर्यवान् थे, वे यह सब देखकर डरे नहीं, निर्भय होकर धैर्य धारण करके वे उससे बोले—"भैया! तुम कौन हो, तुम्हारी योनि कौन सी है, यह तो मैं समझ गया, तुम वायुरूप धारी कोई अन्तरिक्ष के जीव हो किन्तु हो कौन? कोई ब्रह्मराक्षस हो, प्रेत हो, पिशाच हो अथवा भूत

या कोई अन्य अन्तरिक्ष चारी योनि के जीव हो ? तुम्हारी यह दुर्गति कैसे हुई ? तुमने किसी ब्राह्मण की हत्या कर दी थी, क्या ? या तुम्हें किसी ने किसी पाप या लोभ द्वेषवश मार डाला ? तुम अपना सब सच्चा-सच्चा समाचार सुना दोगे, तो उसे सुनकर जो भी मुझसे बन सकेगा, उसका उपाय करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! गोकर्ण की बात सुनकर वह जले मुख की छाया की भाँति पुरुष ढाहमार कर रोने लगा और कंठ पकड़कर संकेत से कुछ कहने लगा।

गोकर्णजी समझ गये, यह कोई अत्यन्त पापी प्रेत है, बोलने

में यह असमर्थ है, अपनी निजी शक्ति से यह बोल नहीं सकता।' उनके पास समस्त तीर्थों का अत्यन्त पवित्र जल था, उसे हाथ में लेकर गायत्री मन्त्र पढ़कर उन्होंने उसके ऊपर फेंका। उस पावन पय के पड़ने से प्रेत के पाप नष्ट हो गये अब उसमें कुछ कहने

की शक्ति आई। वह दीन हीन वाणी में गद्गद कण्ठ से रोते-रोते बोला—"भैया! मैं तुम्हारा अधम नीच, पापी कृतघ्न धुन्धुकारी नाम वाला भाई हूँ, किस मुख से तुम जैसे धर्मात्मा को अपना भाई कहूँ। मैं तो चांडालों से भी गया बीता बन गया था, ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी मैं श्वपचों का संगी बन गया। मैंने अपने कर्मों के ही दोष से अपना ब्राह्मणपन नष्ट कर दिया। फिर भी कैसा भी सही तुम्हारा भाई तो हूँ ही।"

गोकर्ण ने आश्चर्य से कहा—"अरे धुन्धुकारी! तुम्हारी यह दुर्गति कैसे हुई? किसी ने तुम्हें विष दिया था या अनजान में चुपके से वध कर दिया। तुम प्रेत कैसे बने?" प्रेत रूप धुन्धुकारी ने कहा—"भैया! मैं अपने पापों से ही प्रेत बना, दुष्कर्मों के कारण ही मेरी ऐसी दुर्गति हुई। काम के कारण मेरी बुद्धि बिगड़ गयी थी, अज्ञान के कारण मुझे कर्तव्य का ज्ञान नहीं रहा, न जाने मैंने कितने जीवों की हिंसा की, यदि मुझे ही किसी ने मार डाला तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?"

गोकर्ण ने पूछा—"तुम्हें किसने मार डाला?"

प्रेत रूप धुन्धुकारी ने कहा—"मैं कामी बन गया था, पाँच कुलटा कामिनी मैंने काम पूर्ति के हेतु रख ली थीं, उन्होंने धन के लोभ से मुझे बाँधकर लोहे की सलाकाओं से बेधकर, मुख में अँगारे भरकर मार डाला। इसी से मरकर मुझे प्रेत योनि प्राप्त हुई। मैं भूखा-प्यासा इधर-उधर भटक रहा हूँ।"

गोकर्ण ने कहा—"भूखे-प्यासे क्यों हो, कुछ खाने को दूँ।"

दीनता के स्वर में कहा—"भैया, मैं तो खाने में असमर्थ हूँ, बोल भी नहीं सकता। आपके मन्त्र और तप के प्रभाव से इतनी बातें भी कर रहा हूँ। पार्थिव शरीर हो, तो पृथ्वी से उत्पन्न अन्न, फल दूध आदि खा सकता है, मेरा शरीर तो है, वायु का। वासना बनी है पार्थिव वस्तुओं की इसलिये वायु खाता हूँ, उसी

से जीवित हूँ, किन्तु उससे मेरी तृप्ति नहीं होती। अन्न जल खा-पी नहीं सकता इसी से भूखा भटकता हूँ।"

गोकर्ण ने पूछा—"भूख कैसे मिटेगी ?"

प्रेत ने कहा—"जब यह प्रेत योनि छूटे तभी भूख मिट सकती है। इस योनि में वस्तु खायी नहीं जा सकती, उसकी गंध ही ले सकते हैं।"

गोकर्ण ने पूछा—"तुम्हारी प्रेत योनि कैसे छूट सकती है ?"

प्रेत ने कहा—"इसे भैया ! मैं क्या जानूँ। मैं तो जब जीवित था तब भी अज्ञानी था, वह अज्ञान मरने पर भी इस प्रेत योनि में भी मेरे साथ बँधा है तुम पंडित हो, विद्वान हो। शास्त्रों में इसका उपाय खोजो और मेरे ऊपर दया करके मेरे निमित्त से वह कार्य करो।"

गोकर्ण बोले—"भाई, शास्त्रों के अनुसार तो मैंने तुम्हारे लिये किया है। गया श्राद्ध करने से प्रेत योनि से मुक्ति हो जाती है, सो मैंने तुम्हारे निमित्त गया में जाकर श्राद्ध किया। अन्य तीर्थों में भी तुम्हारे उद्देश्य से श्राद्धतर्पण किये। अब तुम और जो कहो सो करूँ ?"

प्रेत ने कहा—"भैया ! मैं क्या कह सकता हूँ। इतना अवश्य मैं जानता हूँ कि साधारण पापियों की गया श्राद्ध से मुक्ति हो सकती है। मैं तो महापातकी हूँ। मेरे पापों की तो कोई गणना ही नहीं। एक बार नहीं आप सैकड़ों बार गया में जाकर मेरे निमित्त श्राद्ध करें तो भी मेरी मुक्ति सम्भव नहीं। इसीलिये तो आपको कोई अन्य ही उपाय सोचना होगा। आप महान् तपस्वी हैं अपनी तपस्या से निर्णय करें।"

यह सुनकर गोकर्णजी बड़े चक्कर में पड़े। वे सोचने लगे जब सैकड़ों गया श्राद्ध से इसकी मुक्ति नहीं तो फिर दूसरा और उपाय मैं कर ही क्या सकता हूँ। कैसे इसे इस प्रेत योनि

से छुड़ा सकता हूँ। बहुत सोचकर वे बोले—"अच्छा भैया! एक काम करो इस समय तो तुम जाओ। जब गया श्राद्ध से भी तुम्हारी इस योनि से मुक्ति नहीं हुई तब तो असम्भव-सा ही है; फिर भी मैं सोचूँगा और अपनी सामर्थ्य के अनुसार तुम्हारे उद्धार का अवश्य कोई न कोई यत्न करूँगा। तुम निर्भय हो जाओ। तुम मेरे बन्धु हो तुम्हारे लिये मैं कुछ उठा न रखूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर वह गोकर्णजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके वहाँ से अन्तर्धान हो गया। अब गोकर्णजी दया के वशीभूत होकर उसके उद्धार के लिये कृत संकल्प हुए। वे रात्रि भर धुन्धुकारी की प्रेत योनि से मुक्ति होने का ही उपाय सोचते रहे। अब जैसे वे उसके उद्धार के लिये प्रयत्न करेंगे, उस पुण्य-प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

तीरथ जलकूँ छिटकि शक्ति बोलन उपजाई।
रोइ रोइ के कथा प्रेत ने सकल सुनाई॥
बोले सुनि गोकरन मुक्ति च्यौं भई न भाई।
तब हित किये श्राद्ध गया अरु तीर्थनि जाई॥
प्रेत कहे—शत गया तैं, मुक्ति न मेरी होय अब।
सोचें अपर उपाय कछु, प्रेत योनि अघ मिटहिँ सब॥

इसके आगे की कथा अगले खंड में पढ़िये।